ISSN : 0373-1200

मार्च 2002

सी. एस. आई. आर. तथा डी. बी. टी. नई दिल्ली के आंशिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

मूल्य : 7.00 रु

विज्ञान

अप्रैल 1915 से प्रकाशित हिन्दी की प्रथम विज्ञान पत्रिका

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913
विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
वर्ष 87 अंक 12
मार्च 2002

मूल्य

आजीवन व्यक्तिगत : 750 रुपये
आजीवन संस्थागत : 1,500 रुपये
त्रिवार्षिक : 210 रुपये
वार्षिक : 75 रुपये
यह प्रति : 7 रुपये

सभापति
डॉ० (श्रीमती) मंजु शर्मा

सम्पादक एवं प्रकाशक
डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग

मुद्रक
नागरी प्रेस
91/186, अलोपी बाग, इलाहाबाद
फोन : 502935, 500068

कम्प्यूटर कम्पोजिंग
शादाब खालिद

सम्पर्क
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002
फोन : 460001 ई–मेल : vigyan1@sancharnet.in
वेबसाइट : www.webvigyan.com

विषय सूची

भारतीय विज्ञान कांग्रेस

डॉ. मुरली मनोहर जोशी

इस वर्ष की कांग्रेस के मुख्य विषय 'स्वास्थ्य सुरक्षा, शिक्षा तथा सूचना प्रौद्योगिकी' में मानवीय विकास के मूल्यों को प्रमुखता दी गई है। यह ऐसा विषय है जो विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास के लिए मानवीय तथा सामाजिक मुद्दों को परम प्रमुखता देता है।

मैंने अनेक अवसरों पर तथा अनेक मंचों से मानव तथा प्रकृति, प्रकृति एवं पृथ्वी, पृथ्वी तथा ब्रह्माण्ड के बीच अटूट सम्बंधों पर बल दिया है। इस ब्रह्माण्ड के विभिन्न घटक एक दूसरे पर निर्भर हैं और उनके संबंध सहजीवी हैं तथा वे एक दूसरे को सतत् रूप से बनाए रखने में सहायक हैं। कोई भी मानवीय समस्या तब तक नहीं सुलझाई जा सकती जब तक कि उस समस्या की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा प्रकृति से संबंधित सब पहलुओं को अच्छी तरह से न समझा जाए। परिणामतः विज्ञान को समाज तथा मानवता के बीच अपने अन्तर्निहित अन्तः संबंधों की पुनः खोज की आवश्यकता रहती है। मुझे खुशी है कि इस वर्ष का चयनित विषय ऐसी सम्पूर्णता को परिलक्षित करता है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो गरीबी, कुपोषण, पर्यावरण, शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक मूल्य प्रणालियों तथा उत्पादन एवं उपभोग के स्वरूपों के बीच की स्थिति के जटिल जाल पर प्रकाश डालता है और उत्पादन एवं उपभोग के स्वरूप हमें विकसित मानवीय ज्ञान, स्वास्थ्य तथा उत्पादकता के वास्तविक चक्रण को गति प्रदान करने के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी को उपयुक्त बनाता है। मैं इस सम्मानित सभा से अनुरोध करता हूँ कि इस कांग्रेस के आगामी कुछ दिनों के दौरान ऐसे सामाजिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक संदर्भ पर गहन अन्तर्निरीक्षण किया जाए जिनसे वैज्ञानिक ज्ञान का सृजन होता है।

मानवीय स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले अनेक कारकों में पोषण तथा पर्यावरण हमारे देश के वैज्ञानिकों एवं प्रौद्योगिकीविदों का आज सर्वाधिक ध्यान आकर्षित करते हैं। कुपोषण सर्वेक्षणों से बहुत ही चिंताजनक स्थिति सामने आती है। 25 प्रतिशत से अधिक नवजात शिशु कम वजन के पैदा होते हैं, 50 प्रतिशत से अधिक शिशु प्रोटीन ऊर्जा कुपोषण से पीड़ित हैं, लगभग 35 प्रतिशत वयस्क ऊर्जा की चिरकालिक कमी से पीड़ित हैं और 75 प्रतिशत जनसंख्या अनेक प्रकार की पोषणीय कमियों से ग्रसित है। सूक्ष्म पोषण तत्वों की कमी विशेषकर लौह, विटामिन ए तथा आयोडीन व्यापक हैं। प्रतिवर्ष लगभग 15 लाख शिशु कुपोषण के कारण काल के ग्रास बन जाते हैं। हमारे यहाँ मातृत्व मृत्युदर 407 प्रति लाख है जबकि विकसित देशों में यह केवल 24 प्रति लाख है। 85 प्रतिशत गर्भवती महिलाएँ, 90 प्रतिशत किशोरियाँ और 75 प्रतिशत 3 साल से कम उमग्र के शिशु लौह न्यूनता (अनीमिया) से ग्रसित हैं। तीन वर्ष से नीचे के कम वजन वाले बच्चों की प्रतिशत 47 है, अविकसित बच्चों की प्रतिशत 46 है, तथा दुर्बल बच्चों की प्रतिशत 16 है। हमारी लगभग 35 प्रतिशत महिलाओं की बॉडी मास इन्डैक्स वांछित 18.5 किलोग्राम प्रति वर्ग मीटर से कम है। भारत में 22 प्रतिशत जनसंख्या अल्पपोषित है जबकि पाकिस्तान में यह संख्या 19 प्रतिशत, ब्राजील में 10 प्रतिशत, मैक्सिको में 6 प्रतिशत तथा मलेशिया में 2 प्रतिशत है।

इस व्यापक कुपोषण तथा अल्पपोषण के स्वास्थ्य परिणाम अत्यधिक चिन्ताजनक हैं। इससे मृत्यु तथा रुग्णता एवं असमर्थता की दर में वृद्धि होती है। जन्म के समय कम वजन और बचपन की प्रारम्भिक अवस्था में कुपोषण के कारण कुपोषण का चक्र पीढ़ी–दर–पीढ़ी चलता रहता है। कुपोषण तथा संक्रामक रोगों का संयोजन विशेषकर हानिकारक हो सकता है। प्रोटीन ऊर्जा कुपोषण प्रतिरोधक प्रणाली को बिगाड़ सकता है, कुपोषण से पीड़ित व्यक्ति में खसरा, पेचिश, श्वसन संक्रमण, क्षयरोग, परट्यूरिस तथा मलेरिया जैसी सामान्य बीमारियों का मुकाबला करने की शक्ति घट जाती है। कुपोषण का प्रभाव न केवल व्यक्ति के जीवन और परिवार पर पड़ता

है बल्कि आर्थिक विकास पर भी इसका सीधा प्रभाव पड़ता है। इससे उत्पादकता घट जाती है जो प्रतिस्पर्धी आर्थिक भूमंडलीकृत अर्थव्यवस्था के विकास में एक बड़ी बाधा है। भारतीय प्रशासनिक स्टाफ कालेज, हैदराबाद द्वारा किए गए अध्ययनों के अनुसार कुपोषण के कारण भारत का सकल घरेलू उत्पाद वर्ष 1996 में 3 प्रतिशत से 9 प्रतिशत घट गया। (अनुमानतः 10—28 बिलियन अमेरिकी डॉलर)।

गरीबी गरीबों को न केवल अपर्याप्त खाद्य बल्कि अपर्याप्त आहार एवं पेयजल के लिए भी विवश करती हैं। गरीबी प्रायः निरक्षरता, विशेष रूप से महिलाओं में निरक्षरता से जुड़ी होती है जिसके कारण बच्चों की देखभाल और पोषणिक आदतें प्रभावित होती हैं। गरीबी एवं निरक्षरता के कारण लिंग भेद भी होता है जो कि बालिका के अपर्याप्त खाद्य तथा स्वास्थ्य सुरक्षा के मामले में देखा जा सकता है और यह भेद इसके किशोरी होने तक चलता है।

मैंने कुपोषण का उदाहरण इस मूलभूत मुद्दे को उठाने के लिए किया है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी को सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नीतिशास्त्रीय संदर्भ मार्ग पर ले जाना होगा और 'विज्ञान किसके लिए' बार—बार पूछा जाना होगा। राष्ट्रीय संदर्भ में विज्ञान और प्रौद्योगिकी को गरीबी, स्वास्थ्य, पर्यावरण, शिक्षा, निष्पक्षता और सशक्तीकरण जैसे मुद्दों को नीति तथा कार्रवाई, कथनी तथा करनी दोनों स्तरों पर प्रमुखता से हल करना होगा। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी को हमारे युवाओं की आशाओं और अपेक्षाओं को पूरा करना होगा।

स्वास्थ्य, पोषण, गरीबी और पर्यावरण के मुद्दों पर पुनः लौटते हुए मैं विज्ञान और प्रौद्योगिकी के उस योगदान की ओर संक्षिप्त ध्यानाकर्षण करना चाहूँगा जो कि इस समस्या के कुछ पहलुओं के निदान में सहायक हो सकता है। हम सभी जानते हैं कि चिकित्सा शास्त्र की स्वदेशी पद्धतियों की समुदाय समर्थित प्राचीन परंतु जीवान्त परंपराओं ने महिलाओं एवं बच्चों से जुड़ी अनेक स्थितियों सहित कई स्थितियों के लिए अल्प दुष्प्रभाव वाली प्रभावी देखभाल एवं उपचारों से हमारी जनसंख्या को हजारों वर्षों से पोसा है।

वियतनाम में मलेरिया के उपचार में पारंपरिक ज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति का संयुक्त प्रयोग एक बहुत अच्छा उदाहरण है, यू.एन.डी.पी. की 2001 वर्ष की मानव विकास रिपोर्ट। इसमें बताया गया है कि 1990 के आरंभ में वियतनाम सरकार ने आर्थिक संवृद्धि का लाभ उठाया तथा मलेरिया नियंत्रण में निवेश को बढ़ाया और राष्ट्रीय प्राथमिकता देकर मलेरिया के विरुद्ध अभियान चलाया। पहली प्रमुख नई खोज नई औषधि— आर्टिमिसनिन का विकास और निर्माण था जिससे मलेरिया के गंभीर एवं बहु—औषधि प्रतिरोधी मामलों का उपचार किया जा सके। देशी 'थान हाओ' पेड़ से निकाली गई औषधि का सदियों से चीन और वियतनाम में परंपरागत औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। उद्योग और शोधकर्ताओं के सहयोग से उच्च गुणवत्ता वाले आर्टिमिसिनिन तथा अन्य व्युत्पन्नों का कम लागत पर स्थानीय स्तर पर उत्पादन किया गया। इस औषधि के प्रयोग से मलेरिया से होने वाली मृत्यु दर में 97 प्रतिशत की कमी आई और इससे संबंधित मामलों में लगभग 60 प्रतिशत की कमी आई। क्या हम इस उदाहरण को सामने रखते हुए कुपोषण के उपचार और प्रजनन तथा मातृत्व स्वास्थ्य सुरक्षा में इसी प्रकार की उपलब्धि प्राप्त नहीं कर सकते ? हमें इस दिशा में आवश्यक कदम उठाने चाहिए।

चिकित्सा की स्वदेशी पद्धति को विकसित करने पर जोर एक उत्साहवर्धक कदम है जो इस क्षेत्र में भारतीय निजी क्षेत्र की बढ़ती रुचि के कारण संभव हुआ है। पर्यावरण के प्रति बढ़ती जागरूकता और पर्यावरण के अनुकूल उत्पादों की ओर झुकाव से हर्बल एवं प्राकृतिक उत्पादों विशेषकर चिकित्सकीय उत्पादों के निर्यात का बाजार बढ़ा है। निर्यात के साथ—साथ घरेलू बाजार में भी वृद्धि होती है, विशेषकर मध्यम वर्ग हेतु। इन बढ़ते बाजारों द्वारा उपलब्ध अवसरों की वजह से कार्पोरेट जगत का उत्पाद निर्माण तथा अनुसंधान एवं विकास दोनों ही क्षेत्रों में आकर्षण बढ़ रहा है। इस बढ़ी हुई रुचि को और अधिक पोषित तथा प्रोत्साहित किए जाने की आवश्यकता है। हमें इस उभरते बाजार के अवसरों के लिए रणनीति बनानी होगी और यह देखना होगा कि इन अवसरों के त्वरित दोहन में सरकारी निवेश क्या भूमिका निभा सकता है।

चिकित्सा की देशी पद्धतियों को मुख्यधारा में लाने की दिशा में सोद्देश्यपूर्ण कार्रवाई के आर्थिक लाभ

बहुत अधिक हैं, विशेष रूप से तब–जब हम जड़ी–बूटी की संभावनाओं पर विचार करते हैं। इन पादपों की उच्च कीमत की संभावनाओं को देखते हुए इनकी विविध प्रकार की खेती छोटे और सीमान्त किसानों के लिए आदर्श साबित होगी। चूँकि बाजार प्राकृतिक खाद के प्रयोग से इन पादपों के जैविकीय उत्पादन की अपेक्षा करता है, अतः इनकी खेती में आने वाली लागतों में उत्तरोत्तर कमी आएगी। कम लागत और उन्नत गुणवत्ता उत्पाद की क्रय सामर्थ्य में वृद्धि करती है और इसके परिणामस्वरूप व्यापार में अभूतपूर्व वृद्धि हो सकती है। जीविका और उद्यम के संदर्भ में इसकी संभावनाएँ बेजोड़ हैं। ग्रामीण गरीबी उन्मूलन, स्वरोजगार सृजन तथा इसके परिणामस्वरूप पोषण तथा स्वास्थ्य पर इस क्रियाकलाप का अमापनीय लाभकारी प्रभाव होगा।

इंगित बृहत सामाजिक लाभ को देखते हुए एक ऐसी रणनीति की आवश्यकता है जो विभिन्न हस्तक्षेपों विशेष रूप से विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी हस्तक्षेपों को एकजुट करने के लिए एक मिशन प्रारम्भ करें। यह मिशन बीज से बाजार तक सभी स्तरों का समन्वय एवं सरकारों विशेषकर हिमालय क्षेत्र के राज्यों, समुदायों, गैर–सरकारी संगठनों, अकादमियों, प्रयोगशालाओं, उद्योग तथा अन्यों को एकजुट करेगा। इस दिशा में विशिष्ट पहल करने के लिए मेरा मंत्रालय, उद्योगों और अकादमियों से पहले ही संपर्क में है। माननीय प्रधानमंत्री जी से अनुरोध है कि इस मिशन को वह उदारतापूर्वक प्रोत्साहन एवं सहायता दें।

मैं स्वास्थ्य की देखभाल और पर्यावरण से संबद्ध विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के कुछ अन्य हस्तक्षेपों के विषय में कहना चाहता हूँ। स्वास्थ्य और पर्यावरण एवं गरीबी के अन्तर्निहित संबंधों के विषय में मैं पहले से ही कह चुका हूँ। शहरी तथा ग्रामीण संदर्भ में पर्यावरणीय और पारिस्थितिकीय पुनरुत्पादन और पुनर्नवीनीकरण उन्नत स्वास्थ्य की पूर्व अपेक्षा है। उदाहरण के लिए सुरक्षित पेयजल की उपलब्धता, उच्च कोटि की जल निकासी और सीवरेज, उपयुक्त सीवेज उपचार, ठोस अपशिष्ट प्रबंधन, भोजन पकाने हेतु स्वच्छ ऊर्जा की उपलब्धता, साफ–सुथरी आवास व्यवस्था, सुरक्षित सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था स्वास्थ्य परिस्थितियों में प्रभावशाली सुधार ला सकते हैं। इन हस्तक्षेपों की आय और गरीबी विशेष रूप से महिलाओं और बालिकाओं पर पड़ने वाले प्रभाव की जानकारी कम है। अभियंता हिमांशु पारिख और आर्किटेक्ट (वास्तुविद), आशीष गन्जू के अग्रणी प्रयासों के अनुभव ने यह दर्शाया है कि निम्न बस्तियों में (ग्रामीण और शहरी दोनों में ही) जहाँ सौद्देश्य, कल्पनाशील और सहभागी मध्यस्थता की गई, वहाँ निर्धन परिवारों की आय का स्तर एक वर्ष के समय में ही दुगुना हो गया। महिलाएँ पीने का पानी और ईंधन एकत्र करने की कड़ी मेहनत से मुक्त हो गईं और उनको उत्पादक व्यवसायों हेतु समय मिला। इससे बालिका शिशु को विद्यालय जाने का समय मिलता है। दोनों में आसपास स्वच्छ और स्वास्थ्यकर वातावरण बनाए रखने का निहित स्वार्थ विकसित होता है। उन्नत स्वास्थ्य उत्पादकता में वृद्धि के मार्ग पर ले जाता है और गरीबी, बीमारी, निरक्षरता और कुपोषण के दोषपूर्ण चक्र के बजाय वर्धित ज्ञान, स्वास्थ्य, उत्पादकता, बढ़ती हुई आय और नव–प्रवर्तन की सामर्थ्य–गति का गुणात्मक चक्र गतिशील हो जाता है।

यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि गुणात्मक चक्र को उत्प्रेरित करना वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक हस्तक्षेप की गुणवत्ता और प्रौद्योगिकी लागू करने के ढंग पर निर्भर करता है। हम बहुधा निर्धन लोगों पर घटिया प्रौद्योगिकी लागू करने की गलती करते हैं। जहाँ धनी लोगों को अल्ट्रावायलेट उपचारित, झिल्ली से छने हुए नल के पानी की आपूर्ति, फ्लश टॉयलेट और खाना पकाने की गैस उपलब्ध है, वहीं निर्धनों से यह आशा की जाती है कि वे सामुदायिक हैंड पम्प, अस्वच्छ सामुदायिक गड्ढे वाले शौचालयों और प्रत्यक्ष तौर पर धुआँ रहित चूल्हों में प्रयोग किए जाने वाले ईंधन से अपना काम चलाएँ। एक गलत धारणा यह है कि कम खर्च करने वालों के लिए सस्ते प्रौद्योगिक समाधानों की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि यदि प्रस्तुत किए गए प्रौद्योगिक समाधानों से गुणवत्ता के स्तर पर समझौता न किया जाए और यदि निर्धन वर्ग को अपने समाधान की योजना बनाने में समर्थ बनाया जाए, जो संयोग से उनके शैक्षिक और कौशल के स्तरों को ऊँचा उठाने में भी सहायक होता है, तो वे स्वयं नागरिक एवं पर्यावरणीय आधारभूत संरचना की सृष्टि, आवासीय ढाँचे और अपने जीवन स्तरों में सुधार करेंगे। प्रौद्योगिकी प्रक्रिया प्रबंधन ऐसी स्थितियों की कुंजी होता है।

केन्द्रीय मंत्री, भारत सरकार
विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्रालय

राष्ट्रीय विज्ञान दिवस

✍ डॉ. देवेन्द्र शर्मा

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में हमारे प्रकृति, विशेषकर पदार्थ और ऊर्जा के ज्ञान में दूरगामी परिवर्तन हुए। पदार्थ द्वारा उत्सर्जित और अवशोषित विकिरण की तरंगों में एक तारतम्य होने के अवलोकन से प्रारम्भ हुई इस यात्रा के सूत्रपात के साथ पदार्थ की संरचना को सैद्धान्तिक रूप देने का मार्ग खुल गया। इसी अवधि में पदार्थ और विकिरण दोनों ने एक ही मूल के के दो रूप होने तथा दोनों के ही दोनों (कण और तरंग) के रूप दर्शाने की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक स्तर पर पुष्टि हुई। इस काल में ही हमारे **महानायक** का जन्म 7 नवम्बर, 1888 को हुआ तथा इस काल खण्ड की समाप्ति के समीप 28/29 फरवरी, 1928 को उसने उस शोध की घोषणा की जिसका महत्व देश काल की सीमाओं को लांघता हुआ निरन्तर बढ़ता जा रहा है। 1987 से यह 28 फरवरी का दिन अब विज्ञान दिवस के रूप में मनाया जा रहा है। यह दिवस समाज और देश के गौरव की यादगार तथा नई पीढ़ी के वैज्ञानिकों के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

चन्द्रशेखर वेंकट रामन् का प्रथम शोध पत्र "फिलोसॉफिकल मैगजीन" में उस समय प्रकाशित हो गया था, जब वे मात्र 18 वर्ष के थे। अपनी प्रतिभा के बल पर ही भारत सरकार की वित्तीय सेवा में उच्च पद पर भी वे आसीन हो गए, परन्तु उनकी रुचि और जिज्ञासा विज्ञान में बनी रही। जब वे कलकत्ता (कोलकाता) में पदासीन थे तब वहाँ से 'इण्डियन एसोसिएशन फॉर द कल्टीवेशन ऑफ साइन्स' की प्रयोगशाला में कार्य करने जाते रहते थे। वहाँ उन्होंने भारतीय वाद्य यंत्रों से सम्बन्धित अनुसंधान किए। कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति सर आशुतोष मुखर्जी ने उनकी विज्ञान के प्रति रुचि, समर्पण और प्रतिभा देखकर उनको कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी के पालित आचार्य पद के लिए आमन्त्रित किया। आज जब लोग विद्वत जीवन की अपेक्षा प्रशासनिक पदों की ओर दौड़ते हैं, तब रामन् ने भारत सरकार के पद को छोड़कर आचार्य पद ग्रहण किया तथा छात्रों के ज्ञानवर्धन और शोध में तल्लीन हो गए। विज्ञान के क्षेत्र में उनके सबसे महत्वपूर्ण कार्य **'रामन प्रभाव'** का अनुसंधान भी यहीं सम्पादित हुआ।

अपनी प्रथम विदेश यात्रा से लौटते समय सन् 1921 में रामन् को भूमध्यसागर के नीले जल ने आकृष्ट किया। इस अवलोकर की व्याख्या के सिलसिले में उनके प्रकाश के प्रकीर्णन पर प्रयोग आरम्भ हो गए, जिनकी परिणति उनके विश्वविख्यात शोध में हुई। रामन् प्रभाव से सम्बन्धित शोध जिन उपकरणों की सहायता से हुए उनका उस समय मूल्य 200 रुपये था और उच्च शिक्षा से सम्बन्धित प्रयोगशालाओं में सामान्यतः ये उपकरण होते थे। आवश्यकता केवल एक विचारवान और समर्पित व्यक्ति की ही थी। यह शोध संक्षेप में एक वर्णीय प्रकाश या फ़ोटोन का पदार्थ द्वारा प्रकीर्णन है। जब फ़ोटोन पदार्थ पर पड़ता या टकराता है तो तीन संभावनाएँ हैं : 1. फ़ोटोन और पदार्थ में प्रत्यास्थ टक्कर हो जिससे फ़ोटोन की ऊर्जा यथावत् रहती है (रैले प्रकीर्णन) 2. फ़ोटोन से पदार्थ अपनी सामर्थ्य के अनुसार ऊर्जा ले लेता है और फ़ोटोन की ऊर्जा में कमी आ जाती है (स्टोक्स रामन् प्रकीर्णन) 3. फ़ोटोन पदार्थ से उपलब्ध ऊर्जा ले लेता है जिससे फ़ोटोन की ऊर्जा बढ़ जाती है (एन्टी स्टोक्स रामन् प्रकीर्णन)। ये तीनों स्थितियाँ स्पेक्ट्रम के रूप में चित्र में स्पष्ट आ जाती हैं। रामन् के इस शोध के सम्बन्ध में आइन्स्टाइन ने कहा था, "रामन् ने पहली बार यह दर्शाया है कि पदार्थ के सान्निध्य में फ़ोटोन की ऊर्जा मे परिवर्तन हो सकता है।

देखने में इस अत्यन्त सरल प्रयोग का महत्व इस बात से आँका जा सकता है कि फ़ोटोन से ली हुई या उसको दी हुई ऊर्जा पदार्थ (अणु, क्रिस्टल आदि

ठोस, द्रव या गैस) के अपने ऊर्जा तलों पर निर्भर है और फलतः उससे पदार्थ की संरचना का समुचित ज्ञान प्राप्त हो जाता है। 1928 में रामन् प्रभाव के अनुसंधान के दो वर्ष बाद 1930 में ही रामन् को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित करना उनके शोध की उपादेयता को दर्शाता है। शोध की घोषणा के बाद के प्रथम दशक में सर्वाधिक शोध पत्र रामन् प्रभाव पर ही प्रकाशित हुए। लेसर के आविष्कार के बाद तो रामन् प्रभाव का महत्व और बढ़ गया है क्योंकि सहज ही इसे किसी निर्धारित ऊर्जा (तरंग दैर्घ्य) का सुगमता से उपलब्ध किया जा सकता है जिससे विघटनशील पदार्थों का अध्ययन भी सम्भव है। इसके अतिरिक्त शोध के लिए पदार्थ की सूक्ष्म मात्रा ही पर्याप्त है। इस समय रामन् प्रभाव के लगभग तीन दर्जन रूप हैं जिनका यहाँ वर्णन संभव नहीं।

भारतरत्न प्रोफ़ेसर चन्द्रशेखर वेंकट रामन् का व्यक्तित्व अद्वितीय था। न केवल उनकी शिक्षा पूरी तरह से अपने देश में हुई वरन् सम्पूर्ण शोध कार्य भी यहीं सम्पन्न हुआ। प्रायोगिक कार्य के लिए अपने उपकरणों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने या पूरी तरह से उनका निर्माण कराने की उनमें क्षमता थी। एक बार प्रोफ़ेसर क्रॉम्पटन जब भारत आए तब अन्तरिक्ष किरणों के अध्ययन से सम्बन्धित उनका एक उपकरण यहाँ समय से नहीं पहुँचा। प्रो. रामन् ने सामान्य उपयोग की वस्तुओं से वह उपकरण तैयार कर उसी दिन उपलब्ध करा दिया।

उनका कार्य केवल प्रायोगिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था, सैद्धान्तिक भौतिकी में भी उनका समान अधिकार था, जिसकी पुष्टि मैक्स बोर्न के इन शब्दों से होती है, "रामन् की कुशाग्र बुद्धि गणित की पेचीदगी को लाँघ कर सीधी तथ्यों पर पहुँच जाती है।" जिन लोगों ने उनके व्याख्यान सुने हैं, चाहे कक्षा में या जन–सामान्य के लिए पोपुलर, वे जानते हैं कि गूढ़ वैज्ञानिक रहस्यों को वे कैसे सुगम बना देते थे।

अपने समय के दो महापुरुषों, महात्मा गाँधी और रामन् के क्षेत्र अलग–अलग थे परन्तु दोनों में अद्भुत समानता थी। दोनों विलक्षण प्रयोगकर्ता थे, उनकी देश भक्ति, स्वदेशी के प्रति निष्ठा, विनोदप्रियता और श्रोताओं के मन में प्रवेश करने की क्षमता अनुपम थी। यहाँ मुझे प्रो. रामन् द्वारा सुनाया गया एक प्रसंग याद आता है। एब बार बंगलूर में बापू के प्रवास के दिनों में रामन् एक स्विस जैव–वैज्ञानिक को उनके पास ले गए। यह सज्जन इस बात का अध्ययन कर रहे थे कि कुछ जीवाणु तरल वायु ताप पर निराहार करते समय तक जीवित रह सकते हैं। "आपका अध्ययन अत्यन्त रोचक है," महान महात्मा ने कहा, "अपने अध्ययन के परिणामों से मुझे भी अवगत कराना।"

चाहे रामन् प्रभाव हो, या आइंस्टाइन का आपेक्षिकता सिद्धान्त या सत्येन्द्रनाथ बसु की क्वाण्टम सांख्यिकी, ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जब शोध कार्य केवल जिज्ञासावश किया गया है, परन्तु अन्ततः मानव ने उसका उपयोग सुख, समृद्धि और उत्थान या कभी–कभी विनाश के लिए किया है। रामन् की शोध यात्रा वाद्य यंत्रों के सुरीले स्वरों से प्रारम्भ होकर सागर की 'श्यामल धवल हिलोरों' द्वारा प्रकाश के प्रकीर्णन और विवर्तन से होती हुई मणियों की जगमगाहट तथा फूलों के रंगों द्वारा दृष्टि–विज्ञान की गुत्थियाँ सुलझाने तक पहुँची। रामन् का सौन्दर्य–बोध और प्रकृति प्रेम वड्सवर्थ की उन पंक्तियों की सहसा याद दिलाता है, जिनका आशय कुछ इस प्रकार है–

मुझमें नगण्यतम खिलता फूल
उन विचारों का करता संचार
पाने में जिनकी गहराई
है घोर तपस्या भी लाचार।

आशा है नवोदित, युवक और युवतियाँ अनेक वैज्ञानिक मनीषियों से प्रेरणा लेकर अपने अवलोन और जिज्ञासा को जागृत रखते हुए प्रकृति के यथार्थ और सत्य का साक्षात्कार करने में सफल होंगे। सुपात्र में ज्ञान का प्रादुर्भाव और प्रसार स्वयमेव होता है। भास्कराचार्य के शब्दों में,

'जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः'

सी 1038, इन्दिरा नगर
लखनऊ–16

इंटरनेट के जरिए टेलीचिकित्सा : एक क्रांतिकारी अवधारणा

डॉ. प्रदीप कुमार मुखर्जी

दूर संचार एवं सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। नतीजतन सूचना प्रौद्योगिकी का दायरा अब सिर्फ शैक्षणिक ज्ञान, सूचनाओं के आदान–प्रदान तथा मनोरंजन आदि तक सीमित न रह कर आदमी की रोजमर्रा की जरूरतों के साथ भी जुड़ गया हैं। इन्ही जरूरतों में शामिल है आदमी की बीमारी की जाँच एवं उसका इलाज। अब घर बैठे बिठाए ही व्यक्ति आराम से न केवल अपनी बीमारी की जाँच बल्कि अपना इलाज भी करा सकता है। यहाँ तक कि हजारों किलोमीटर दूर बैठे डाक्टर द्वारा व्यक्ति अपना आपरेशन भी करा सकता है। यह सब दूरस्थ चिकित्सा विधि–यानी टेलीचिकित्सा (टेलीमेडिसिन) द्वारा ही संभव हुआ है।

साधारण भाषा में टेलीचिकित्सा का अर्थ है डाक्टर और मरीज के बीच दूरस्थ संबंध। इस संबंध को स्थापित करने में दूर संचार तथा सूचना प्रौद्योगिकी से जुड़े उपकरणों ने बड़ी अहम् भूमिका निभाई है।

टेलीचिकित्सा के प्रारंभिक दौर में टेलिफोन का काफी व्यापक तौर पर इस्तेमाल हुआ। पर टेलीचिकित्सा में वीडियो सूचना के महत्व को देखते हुए कम्प्यूटरों का इस्तेमाल शुरू हुआ। मल्टीमीडिया, तकनीक के आगमन से 'ग्राफिक', 'एनीमेशन' तथा 'साउंड' को प्रभावी ढंग से इस्तेमाल कर पाना संभव हो गया। मल्टीमीडिया तकनीक द्वारा वीडियो संगोष्ठी (कानफेरेंसिंग) की सुविधा भी उपलब्ध हुई जिसके चलते टेलीचिकित्सा के क्षेत्र में और भी तकनीकी उन्नति हुई। एक्स रे,, कार्डियोग्राम आदि विभिन्न रिपोर्टों तथा मरीज की जाँच के लिए वीडियो संगोष्ठी का प्रयोग बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

दूर–दराज के क्षेत्रों में टेलीचिकित्सा की सेवा को पहुँचाने में संचार उपग्रह बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। समुद्री यात्रियों की चिकित्सा संबंधी जरूरतों को पूरा करने में टेलीचिकित्सा से लाभ उठाया जा सकता है। यूरोपीय आयोग द्वारा अनुमोदित एक टेलीचिकित्सा प्रयोग को मारमेड (मेडिकल एजेन्सी एड थ्रू टेलीमेडिसिन) परीक्षण का नाम दिया गया है। इस परीक्षण को, जिसमें नौ देशों ने हिस्सा लिया है, अब एक कंसोर्शियम (संघ) का दर्जा हासिल हो चुका है। समुद्री यात्रा पर निकले देश–विदेश के लोगों को 'मरमेड' चिकित्सा सेवा प्रदान करता है। जरूरत पड़ने पर किसी मरीज की बीमारी का पिछला रिकार्ड (केस हिस्ट्री) भी यह प्राप्त कर सकता है ताकि उसके इलाज में सुविधा हो।

अंटार्कटिक जैसे दुर्गम स्थल तक पहुँचे वैज्ञानिकों तथा अन्य तकनीकी कर्मियों को चिकित्सा सेवा प्रदान करने में भी टेलीचिकित्सा की अहम् भूमिका हो सकती है। ब्रिटेन की अंटार्कटिक सर्वेक्षण चिकित्सा इकाई ने रेडियो तथा संचार उपग्रहों के माध्यम से पिछले करीब पचास वर्षों में टेलीचिकित्सा से जुड़े अनेक परीक्षण किए हैं।

स्थल और समुद्र ही नहीं बल्कि व्यावसायिक वायुयानों में भी टेलीचिकित्सा की सुविधा प्रदान करने के लिए टेलीमेडिसिन उपकरण लगाए जा रहे हैं। इसके लिए इनमैरसेट जैसे खास संचार उपग्रहों का प्रयोग भी किया जा रहा है। अब तो अंतरिक्ष यात्रियों को भी

टेलिचिकित्सा प्रणाली के जरिए चिकित्सा सुविधा प्रदान करने के बारे में सोचा जा रहा है। अमेरिका आदि विकसित देशों में इस दिशा में कुछ सफल प्रयोग भी किए गए हैं।

निस्संदेह टेलीचिकित्सा तकनीक धीरे–धीरे उन्नति की ओर अग्रसर होती जा रही है। चिकित्सा विशेषज्ञों एवं शोधकर्ताओं ने अब इसे लैप्रोस्कोपिक कक्ष तक पहुँचा दिया है। टेलीचिकित्सा की इस उन्नत तकनीक में एक कैमरे को आपरेशन कक्ष में लगा दिया जाता है। सर्जन तथा शल्य क्रिया संबंधी मशविरा देने वाला सर्जिकल सलाहकार या विशेषज्ञ दोनों अपने–अपने हाथों में हैंडसेट रखते हैं जिनके द्वारा उनकी आपस में बातचीत होती है।

आपरेशन के दौरान विशेषज्ञ या सलाहकार डाक्टर अपने मानिटर पर मरीज का दृश्य प्रतिबिंब (वीडियो इमेज) देखता है। सलाहकार कम्प्यूटर के एक खास बटन के प्रयोग से मरीज के वीडियो इमेज में किसी खास चीज को रेखांकित (हाइलाइट) करने के लिए उस पर खास निशान (स्पेशल मार्किंग) बना सकता है। इसके बाद ये वीडियो इमेज आपरेशन कक्ष को प्रेषित कर दिए जाते हैं। इन दृश्य प्रतिबिंबों को देख कर सर्जन बड़ी कुशलता से किसी जटिल शल्य क्रिया को विशेषज्ञों के मशविरा द्वारा आसानी से सम्पन्न कर सकता है।

अब तो दूरस्थ शल्य क्रिया (टेलीसर्जरी) में जीते–जागते सर्जन की जगह सुदूर नियंत्रित (रिमोट कंट्रोल्ड) रोबोटों का भी इस्तेमाल किया जा रहा है। शल्य चिकित्सक दूर बैठे ही इस रोबोट को नियंत्रित कर संचालित कर सकता है। इस विधि में सर्जन एक त्रिआयामी पर्दे पर शल्य चिकित्सा का पर्यवेक्षण करते हुए अपने हाथों को एक खास तरह के धातु–निर्मित दास्तानों के अंदर घुसाता है। सर्जन द्वारा दिए गए निर्देशों को ये दस्ताने दूरस्थ रोबोट की कैमरायुक्त बाहों तक फिर प्रेषित करते हैं। सर्जन के निर्देशों का पालन करते हुए रोबोट फिर शल्य उपकरणों की मदद से आपरेशन को सम्पन्न करता है।

इस विधि के प्रयोग द्वारा हाल ही में न्यूयार्क स्थित 'इंस्टीट्यूट आफ रिसर्च इन कैंसर ऑफ द डाइजेस्टिव सिस्टम' के प्रमुख सर्जन जैक्स मारेसकॉक्स को 7000 किलोमीटर की दूरी पर स्थित फ्रांस की स्ट्रॉसबर्ग निवासी एक अड़सठ वर्षीया महिला के पित्ताशय का सफल आपरेशन करने में कामयाबी मिली है।

टेलीचिकित्सा तकनीक में अब इतनी उन्नति हो गई है कि इंटरनेट के माध्यम से भी अब इस सेवा का लाभ उठाया जा सकता है। इंटरनेट का 'वर्ल्ड वाइड वेब' चिकित्सा मशविरे के लिए बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इंटरनेट द्वारा रोगी अब किसी भी चिकित्सा वेबसाइट पर जाकर देश–विदेश के जाने–माने विशेषज्ञों के साथ आसानी से सम्पर्क स्थापित कर उनसे सलाह–मशविरा कर सकता है।

इंटरनेट पर 'ग्राफिक', 'एनिमेशन' तथा 'साउंड' का बड़े प्रभावी ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है। अतः मरीज के एक्स–रे, इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम और इलेक्ट्रोसेफालोग्राम से लेकर एडवांस एंजियोग्राम, मैग्नेटिक रेजोनेंस इमेज और हिस्टोपैथोलॉजी द्वारा भेज कर विशेषज्ञों की राय घर बैठे ही प्राप्त की जा सकती है। शरीर के किसी भाग में कैंसर जैसे घातक मर्ज की पहचान के लिए स्कैनिंग द्वारा उस भाग के चित्रों को हजारों किलोमीटर दूर बैठे विशेषज्ञों को प्रेषित कर उसका अमूल्य मशविरा प्राप्त किया जा सकता है।

पाश्चात्य देशों ने टेलीचिकित्सा के क्षेत्र में अच्छी प्रगति कर ली है। वहाँ आज यह सेवा व्यावसायिक रूप धारण करती जा रही है। हालाँकि भारत के लिए टेलीचिकित्सा एक बिल्कुल नई अवधारणा है। लेकिन यहाँ इसे अपनाना शुरु कर दिया गया है। अभी पिछले दिनों टाटा कंसलटेंसी सर्विसेज (टीसीएस) के इंजीनियरों ने देश के प्रसिद्ध एवं वरिष्ठ चिकित्सा विशेषज्ञों के साथ मिल कर एक वेबसाइट विकसित की है। इस वेबसाइट पर किसी भी बीमारी के लिए न केवल सलाह–मशविरा हासिल किया जा सकता है बल्कि बीमारी की जाँच एवं उसका उपचार भी किया जा सकता है।

मुम्बई के एक चिकित्सक ने भी इंटरनेट पर एक आभासी (वर्चुअल) क्लिनिक स्थापित किया है जिसके जरिए वह लोगों को होम्योपैथी इलाज संबंधी

सलाह–मशविरा दिया करता है। लेकिन अभी टेलीचिकित्सा को पारम्परिक चिक्सिा व्यवस्था का विकल्प नहीं माना जा सकता है।

टेलीचिकिसा एवं पारम्परिक चिकित्सा क्षेत्र से जुड़े चिकित्सकों तथा विशेषज्ञों का मानना है कि टेलीचिकित्सा प्रणाली में कुछ कमियाँ भी हैं। टेलीचिकित्सा में मरीज के प्रेषित चित्रों के आधार पर ही रिपोर्ट बनती है। कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि ऐसी रिपोर्ट पारम्परिक तरीके से तैयार होने वाली रिपोर्ट के मुकाबले कम वास्तविक होती है तथा कई मामलों में उसकी प्रामाणिकता भी संदेहास्पद होती है।

टेलीचिकित्सा प्रणाली की एक दूसरी कमी यह बताई जा रही है कि टेलीचिकित्सा केन्द्रों पर मुख्य रूप से विशेषज्ञ चिकित्सक ही उपलब्ध रहेंगे। कई मरीज अपनी किसी सामान्य शारीरिक समस्या के लिए भी चिकित्सक सलाह हासिल करना चाहते हैं। लेकिन हो सकता है कि चिकित्सा विशेषज्ञ मरीजों द्वारा पूछे गए सभी सवालों पर अपनी सलाह न दें।

टेलीचिकित्सा के बारे में एक कानूनी पक्ष की बात भी उठाई जा रही है। आज जबकि पारम्परिक चिकित्सा सेवा को उपभोक्ता कानून के दायरे में लाया जा चुका है, टेलीचिकित्सा में किसी मरीज के साथ हादसा होने पर कोई और चिकित्सकीय गड़बड़ी हो जाने पर कानूनी तौर पर किसे जिम्मेदार ठहराया जाएगा ?

इस तरह टेलीचिकित्सा को लेकर तरह–तरह की शंकाओं का जन्म हो रहा है। कुछ हद तक ऐसी शंकाओं का उठना स्वाभाविक भी है क्योंकि टेलीचिकित्सा अभी अपने विकास के आरंभिक दौर में ही है। आने वाले समय में टेलीचिकित्सा का दायरा निश्चित तौर पर काफी विस्तृत होने वाला है। इस चिकित्सा प्रणाली में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों की कीमतों के भी निकट भविष्य में कम होने की आशा है।

सूचना प्रौद्योगिकी का ऐसा क्रांतिकारी और सशक्त माध्यम है इंटरनेट कि आने वाले दिनों में इसके जरिए न केवल इलाज होगा बल्कि चिकित्सा शिक्षा भी इसी के माध्यम से दी जाएगी।

43, देशबंधु सोसाइटी
15, पटपड़गंज
दिल्ली–110 092

मानव शरीर में जीनों का कुल भार

एक वयस्क व्यक्ति के शरीर में लगभग 10^{14} कोशिकाएँ होती हैं। जिनमें प्रत्येक में 46 क्रोमोसोम रहते हैं। अतः मानव शरीर में क्रोमोसोमों की कुल संख्या 46×10^{14} होगी और उनका कुल आयतन $10^{14} \times 46 \times 10^{-14} = 50$ सेमी³। चूँकि सजीव पदार्थ का घनत्व जल के तुल्य है। अतः पूरे शरीर में क्रोमोसोमों का भार 50 ग्राम होगा। यही भार है जीनों का जो शरीर रूपी आवरण का तानाबाना बुनती हैं।

क्रोमोसोम का आयतन = क्रोमोसोम की लम्बाई x चौड़ाई x मोटाई। क्रोमोसोम की लम्बाई 10^{-14} सेमी0 होगी। चौड़ाई तथा मोटाई को कम मानने पर आयतन 10^{-14} सेमी0 होगा।

एक जीन का आयतन = क्रोमोसोम का कुल आयतन / जीनों की संख्या

= 10^{-17} सेमी³

अतः एक जीन में लगभग दस लाख परमाणु होते हैं। कितनी जटिल संरचना है जीन की, जो दस लाख परमाणुओं से बनी है।

भारत का नवीनतम दूरसंचार उपग्रह: इनसैट-3 सी

✍ शुकदेव प्रसाद

24 जनवरी, 2002 को इन्सैट (भारतीय राष्ट्रीय उपग्रह) (INSAT) श्रृंखला के तीसरी पीढ़ी के दूसरे उपग्रह–इनसैट–3सी के कौरू, फ्रेंच गुयाना (यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसी की प्रक्षेपण केन्द्र) से सफल प्रक्षेपण के साथ भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (ISRO) ने एक और महती उपलब्धि अर्जित कर ली है।

आशा की जानी चाहिए कि इन्सैट–3सी से देश भर में दूर संचार प्रसारण, व्यावसायिक संचार और सचल दूरभाष सेवाओं में और वृद्धि होगी। इन्सैट–3सी यदि सफलतापूर्वक 12 वर्ष काम भी करता रहा तो भी देश की घरेलू माँगें पूरी कर पाने की स्थिति नहीं बन पा रही है। सद्यः प्रक्षेपित इन्सैट–3सी के 32 ट्रांसपोंडरों का उपयोग घरेलू एजेंसियाँ ही कर पाएंगी क्योंकि इसरो (ISRO) अभी भी भारतीय निजी टी.बी.4 चैनलों को प्रसारण हेतु ट्रांसपोंडर्स उपलब्ध कराने की स्थिति में नहीं है।

इन्सैट–3सी को इन्सैट–2सी के स्थानापन्न के रूप में प्रक्षेपित किया गया है। वर्षांत 2002 तक इसकी 7 वर्षीय सेवाएँ समाप्त होने को हैं। स्मरण रहे कि इन्सैट–2सी में 20 ट्रांसपोंडर लगाए गए हैं और एक साथ इतने ट्रांसपोंडरों के निष्क्रिय हो जाने के कारण अचानक एक आपदा उठ खड़ी होगी। हमने जनसेवाओं का इतना विस्तार कर लिया है, उन्हें रोका नहीं जा सकता है और ऐसे में हमें स्वदेशी ट्रांसपोंडर किराए पर लेने होंगे। हमें यह कदापि विस्मरण नहीं करना चाहिए कि एक विदेशी ट्रांसपोंडर को किराए/पट्टे पर लेने के लिए 10 लाख से 20 लाख डालर का वार्षिक भुगतान करना होता है। इसरो की यह क्षति इस बात की द्योतक है कि भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम की आत्मनिर्भरता अभी भी प्रश्न चिन्हित है।

इन्सैट–2सी की कार्यकारी अवधि समाप्ति के छोर पर है और इसरो की आयोजना के अनुसार इन्सैट–3डी और इन्सैट–3एफ वर्षांत 2002 और 2003 वर्षारंभ तक प्रक्षेपित किए जाने हैं। इससे पूर्व ही यदि इन्सैट–2सी कदाचित कालकवलित हो जाए तो भारतीय दूर संचार के समक्ष एक आसन्न संकट उपस्थित हो जाएगा और हमें फिर वही करना पड़ेगा जैसा कि हमने इन्सैट–2डी की सफलता के बाद अरब सैट–1सी के ट्रांसपोंडर किराए पर लिए थे और उसे भी अस्थायी रूप से इन्सैट परिवार में भारी भरकम राशि चुकाकर शामिल किया गया था।

हमारी राष्ट्रीय वांछनीयताएँ

यह ठीक है कि इन्सैट–3सी की सफलता के साथ इसरो के परिवार में प्रायः 117 ट्रांसपोडर्स उपलब्ध होने जा रहे हैं लेकिन मूल कारण यह है कि आगामी 3–4 वर्षों में देश की सरकारी एजेंसियों को ही प्रायः 125 ट्रांसपोडरों की जरूरत होगी और बढ़ती जरूरतों के मद्देनज़र एक दशक के भीतर देश को 250 ट्रांसपोडर चाहिए ही चाहिए। ऐसे में राष्ट्र की वांछनीयताओं के संपूरण के लिए 'इसरो' को अपनी उपग्रह निर्माण/प्रक्षेपण की क्षमता हर हाल में वर्धित करनी होगी।

उपग्रह निर्माण की क्षमता बढ़ा देने पर भी हमें इन्सैट उपग्रहों के प्रक्षेपण हेतु विदेशी एजेंसियों पर निर्भर करना पड़ेगा क्योंकि हमारा सर्वाधिक शक्तिशाली राकेट जी.एस.एल. वी अभी परीक्षणों के दौर से गुज़र रहा है।

अपने प्रारंभिक परीक्षण में इसने आंशिक सफलता ही प्रदर्शित की है। राकेट GSAT-I नामक उपग्रह को उसकी 36,000 किमी की ऊँचाई वाली वांछित कक्षा में पहुँचा ही नहीं सका। जब तक स्वदेशी क्रायोजेनिक इंजन निर्मित नहीं हो जाता तक तक हमें स्वदेशी एजेंसियों का मुहताज बना ही रहना होगा। ज्ञातव्य है कि भारत को अपने एक इन्सैट उपग्रह के प्रक्षेपण हेतु प्रायः 250 करोड़ रुपये व्यय करने होते हैं। भारतीय अंतरिक्ष कार्यक्रम को यदि आत्मनिर्भरता प्राप्त करनी है तो इस आर्थिक अधिभार से दूसरों को निजात पानी ही होगी।

दूर संचार टी.वी. प्रसारण के लिए उपग्रहों की माँग पिछले दसेक सालों में बहुत तेजी से बढ़ गई है, ऐसे में यदि भारत ने उपग्रह प्रौद्योगिकी में समुचित निवेश नहीं किया तो चीन जैसे राष्ट्र भी हमसे बाजी मार ले जा सकते हैं और विकासशील राष्ट्रों का नुमादंइा भारत इस क्षेत्र में विश्व मंच पर काफी नीचे खिसक आएगा। इसरो अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी के अंतर्राष्ट्रीय बाजार में 30 प्रतिशत पर अपना कब्जा बना चुका है। यदि उसे अपने एकाधिकार को और बढ़ाना है तो उसे त्वरा के साथ उपग्रह निर्माण/प्रक्षेपण क्षमता वर्धित करनी ही होगी।

सफल प्रक्षेपण

24 जनवरी 2002 को फ्रेंस गुयाना स्थित कौरू प्रक्षेपण केन्द्र से इन्सैट–3सी का सफल प्रक्षेपण भारतीय समयानुवार प्रातः 5.20 बजे किया गया जो अपने पूर्व निर्धारित कार्यक्रम से 54 मिनट देरी से संभव हुआ। यह उड़ान एरियन स्पेस के एरियन–4 राकेट से की गई। यद्यपि इन्सैट–3सी की उड़ान विगत अगस्त में एरियन–5 से प्रायोजित थी लेकिन ऐन वक्त पर उसकी विफलता के कारण कार्यक्रम में तब्दीली की गई। सद्यः उड़ान एरियन राकेट की 147वीं उड़ान थी और प्रक्षेपण के ठीक 21 मिनट बाद एरियन ने उपग्रह को उसकी निर्धारित ऊँचाई वाली भू–स्थिर कक्षा में डाल दिया। इसकी उड़ान के दौरान भी 11 सेकंड का व्यवधान आया था जब कम्प्यूटर साफ्टवेयर में तकनीकी गड़बड़ी के कारण उल्टी गिनती को रोक दिया गया था लेकिन फिर भी प्रक्षेपण पूरी तरह मापदंडों पर खरा उतरा।

एरियन के उपग्रह से अलग होते ही हासन (कर्नाटक) स्थित मुख्य नियंत्रण सुविधा को संकेत मिलने शुरू हो गए और उसने आधे घंटे में उपग्रह को अपने नियंत्रण में ले लिया।

आगामी 15 दिनों में मुख्य नियंत्रण कक्ष से उपग्रह को 74 डिग्री पूर्वी देशांतर पर इन्सैट–1डी के साथ स्थापित किया जाएगा।

उपग्रह की धरती से निकटतम दूरी 570 किमी0 और अधिकतम दूरी 35,920 किमी होगी।

प्रायः 250 करोड़ रुपये की लागत से निर्मित उपग्रह की कार्यकारी अवधि 12 वर्ष होगी। उपग्रह पर प्रक्षेपण व्यय 350 करोड़ रुपये आया है।

इन्सैट–3सी का भार 2750 किग्रा0 है और इसमें उन्नत किस्म के 32 ट्रांसपोंडर लगे हैं जिनकी विवरणी निम्नवत है :–

1. 24 ट्रांसपोंडर– सामान्य सी बैंड आवृत्ति के
2. 6 प्रेषानुकर– सामान्य सी बैंड आवृत्ति के
3. 2 ट्रांसपोंडर एस0 बैंड के
4. 1 एम.एस.एस. बैंड का ट्रांसपोंडर (Mobile Satelite Service)।

इन्सैट–3सी बूढ़े और जर्जर होते जा रहे इन्सैट–2सी का स्थानापन्न होगा, फलस्वरूप भारतीय उपग्रहों की सेवाओं में नैरंतर्य बना रहेगा। इससे वी सैट (Very Small Aperture Terminal VSAT) और प्रसारण सुविधाओं में इजाफा होगा।

भावी कार्यक्रम

इसरो की आयोजना आगामी 3–4 वर्षों में 9 और संचार उपग्रहों के प्रक्षेपण की है जिससे इसरो की मौजूदा 85 ट्रांसपोंडरों में 135 ट्रांसपोंडरों का और इजाफा होगा और भारतीय संचार क्रांति को त्वरा मिल जाएगी।

इन्सैट की चौथी पीढ़ी भी शीघ्र ही वजूद में आने वाली है। इन्सैट–4 श्रृंखला में भी स्वदेश निर्मित 5 उपग्रह होंगे। इन्सैट की चौथी श्रृंखला का पहला उपग्रह वर्षांत 2003 या वर्षारंभ 2004 तक छोड़े जाने की पूर्ण संभावना है। इनमें वी सैट सुविधाओं के प्रसार हेतु के0यू0 बैंड के और ट्रांसपोंडर लगाए जा रहे हैं।

यह सच है कि अमेरिकी/यूरोपीय संचार उपग्रहों

शेष पृष्ठ 25 पर

ॲनीमिक आइसफिश

✍ डॉ0 रवीन्द्र नाथ सेठ

मछलियों का संसार जितना रोचक है उतना अनूठा भी। विभिन्न जलीय परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित कर कदाचित् यह अपनी विभिन्नता में जन्तु जगत में कीट पतंगों के समकक्ष हैं। शारीरिक संरचना के दृष्टिकोण से मछलियों ने अपने आपको विभिन्न प्रकार की जलीय परिस्थितियों में रहने के अनुकूल बना लिया है। भाँति–भाँति के रंग, आकार एवं जीवन–शैली इत्यादि इनको अति रोचक बनाते हैं।

विश्व के सर्वाधिक ठंडे जल ऐन्टार्टिका, केरूगेलेन बोवेट एवं पश्चिमी जार्जिया के ऐटलांटिक समुद्रतल पर विचरण करती बर्फ की तरह सफेद ॲनिमिक मछलियाँ अपनी अद्‌भुत संरचना के कारण मात्र कौतूहल ही नहीं वैज्ञानिक जिज्ञासा का भी विषय रही हैं। बर्फ सी दिखने वाली ये मछलियाँ ऐन्टार्टिका एवं ऐटलांटिक के समुद्रतल जहाँ तापमान सदैव अत्यधिक ठण्डा एवं लगभग स्थिर रहता है पायी जाती हैं। ऐसे स्थानों पर पानी में घुली आक्सीजन की मात्रा तथा भोजन की प्रचुरता रहती है। ऐन्टार्टिका के घुमक्कड़ मछुवारे इन मछलियों को ॲनिमिक आइसफिश के नाम से जानते हैं। इन मछलियों के रुधिर में सफेद रक्त कणिकाएँ तो होती हैं परन्तु लाल रक्त कणिकाओं का पूर्णतया अभाव होता है। वाह्य आकार में मगर (माइक्रोडाइल) से मिलती जुलती दिखाई देने वाली इन मछलियों को बोल–चाल की भाषा में लोग 'क्रोक्रोडाइलफिश' भी कहते हैं। ऐसी मछलियों की सोलह प्रजातियाँ कुल चेनिकथाइड, क्रम परसीफारामिश समूह में वर्गीकृत है।

इस समूह की मछलियाँ अपने वाह्य आकार में अन्य मछलियों सी तो दिखाई देती हैं परन्तु धड़ के अनुपात में सर कुछ बड़ा होने एवं जबड़े आगे की ओर खिंचे होने के कारण, इनका अग्रभाग मगर (क्रोक्रोडाइल) सा दिखाई देता है। शरीर का पश्चभाग धीरे–धीरे पतला होकर समपुच्छ तक जाता है। त्वचा में शल्क नहीं होते। अन्य मछलियों की तरह इनमें भी क्लोमावरण से ढका क्लोम या गलफड़ा होता है जिसकी संरचना सामान्य मछलियों की तुलना में कुछ बड़ी एवं कम घुमावदार होती है। इनकी मुख्य विशेषता इनके रुधिर में लाल रक्त कणिकाओं का पूर्ण अभाव है जिससे इनका रुधिर रंगविहीन या अत्यन्त हल्का पीला दिखाई देता है। जबकि सामान्यतया मछलियों का रुधिर लाल रंग का होता है। इतना ही नहीं, शरीर के वे अंग जहाँ लाल रक्त कणिकाओं का निर्माण होता है, जैसे यकृत, गुर्दा, अस्थि मज्जा, वहाँ भी इन कणिकाओं को अनुपस्थित पाया गया। रीढ़धारी जन्तुओं में ऐसा उदाहरण ईल मछलियों के शिशुओं को छोड़कर अत्यन्त दुर्लभ है। ईल मछलियों के शिशुओं में रूपान्तर के पश्चात् जब वयस्क गुण उत्पन्न होने लगते हैं तब भी लाल रक्त कणिकाओं का निर्माण आरम्भ होता है। प्राकृतिक रूप से ॲनीमिया (रक्तहीनता) से ग्रस्त ये मछलियाँ अन्य सामान्य मछलियों की तरह जीवन बिताती हैं। इनकी वृद्धि अतिजीविता, भोजन ग्रहण करने की क्षमता इत्यादि इनके साथ विचरण करने वाली अन्य सामान्य मछलियों की तुलना में लगभग सामान्य होती है।

लाल रक्त कणिकाओं के अभाव में यह ॲनीमिक आइसफिश जीवनदायी गैस आक्सीजन पानी से कैसे ग्रहण करती होगी, मात्र कौतूहल ही नहीं वैज्ञानिक चिन्तन एवं शोध का विषय रहा है। रूसी जीव वैज्ञानिक एल0डी0 मासिनकीवी ने इनकी कुछएक प्रजातियों में अत्यन्त अल्प मात्रा में लाल रक्त कणिकाओं की उपस्थिति की बात कही, परन्तु जान टी रूड ने इस समूह की ग्यारह प्रजातियों का विस्तृत अध्ययन कर इस कथन का खंडन कर दिया। कुछ वैज्ञानिकों ने शल्कविहीन त्वचा से श्वसन की बात उठाई। परन्तु रक्त नलिकाओं के त्वचा की माँसपेशियों में काफी अन्दर धँसे रहने के कारण ऐसा तर्कसंगत नहीं लगता। इसकी एक प्रजाति चे0
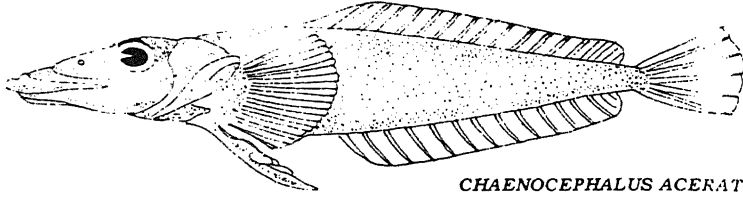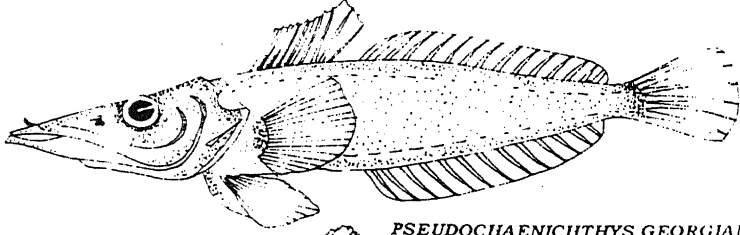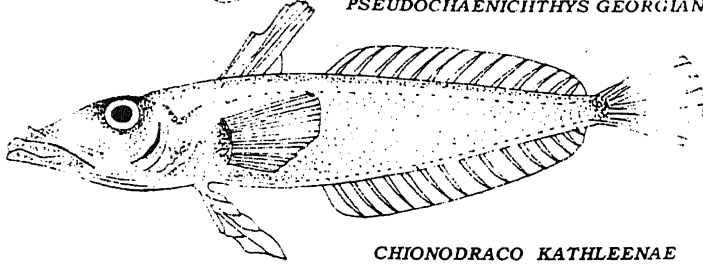
ऐसीरेटस में रक्त में आयतन के हिसाब से 6.2–7.2 प्रतिशत आक्सीजन ग्रहण करने की क्षमता आक्सीजन के भौतिक घोल के रूप में होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है। पूर्णरूप से विकसित हृदय में लाल माँसपेशियों का होना क्लोम तक रक्त की आपूर्ति दर्शाते हैं। ऐसी परिस्थिति में अनेक वैज्ञानिकों ने इन मछलियों की अतिजीविता एवं सफल जीवन शैली पर कई तर्क प्रस्तुत किए परन्तु पूर्ण विवरण आज भी ठीक प्रकार से ज्ञात नहीं है। जीववैज्ञानिकों का यह मत है कि अत्यधिक ठण्डे वातावरण में निवास करना इन मछलियों के लिए लाभप्रद है। कम ताप पर अपनी जीवनक्रिया को सम्पन्न करने में ॲनिमिक मछलियों को अत्यन्त कम मात्रा में आक्सीजन की जरूरत पड़ती है एवं ऐसे स्थानों पर जल में घुली आक्सीजन की अधिकता भी होती है। श्वसन तंत्र की विशेष संरचना, जैसे क्लोमों का मुखगुहा से बड़ा होना तथा क्लोम (गिल) का कम घुमावदार होना की सतह क्लोम तक पानी के बहाव में सहायक है। हृदय का पूर्ण विकसित होना तथा इसकी माँसपेशियों में लाल माँसपेशियों की उपस्थिति कुछ हद तक लाल रुधिर कणिकाओं एवं हीमोग्लोबिन के अभाव को कम करने में सहायक है। रक्त नलिकाओं का काफी बड़ा होना भी रक्त के बहाव में बाधा उत्पन्न नहीं करता। रुक–रुक कर भोजन ग्रहण करने की आदत इनको शक्ति संचय करने में सहायक होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मछलियाँ अपने वाह्य वातावरण से पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर सामान्य जीवन बिताने में सक्षम तथा पूर्णतया सफल हैं।

केन्द्रीय अन्तस्थलीय प्रग्रहण मात्स्यकी अनुसंधान संस्थान
24, पन्ना लाल रोड, इलाहाबाद

विमान दुर्घटनाएँ : क्यों और कैसे

राकेश पाठक

आज के विज्ञान और प्रौद्योगिकी के युग में हम भरपूर प्रगति कर चुके हैं और हमारे लगभग सभी मुख्य हवाई अड्डे आधुनिक यंत्रों से सुसज्जित भी हैं। इसके बाद भी भयावह विमान दुर्घटनाओं का होना विमान यात्राओं को विवादास्पद बना देता है। हवाई अड्डे में जो खामी दुर्घटना का एक कारण हो सकती है वह है, विमानों की आवाजाही के लिए बना सिर्फ एक ही रास्ता। यद्यपि पहले भी उड़ने वाले और उतरने वाले विमानों के लिए अलग–अलग गलियारे बनाने की माँग उठी और इसके बाद हवाई अड्डों को विशेष प्रयासों द्वारा आधुनिक यंत्रों से सुसज्जित तो किया गया पर उड़ने व उतरने वाले विमानों के लिए अलग–अलग रास्ते बनाने के तथ्य को नकार दिया गया जो बार–बार दुर्घटना का कारण बनते हैं।

वास्तव में कई लोग भ्रमवश यह समझते हैं कि विमान को उड़ाना तथा उतारना आदि सब विमान चालक स्वयं अपनी इच्छानुसार करता है किन्तु ऐसा नहीं होता है। विमानों को हर पल भूमि नियंत्रण केन्द्र से आदेश मिलते रहते हैं– जैसे कि उन्हें कितनी ऊँचाई पर जाना है, किस दिशा में मुड़ना है इत्यादि।

इसके अलावा यातायात नियंत्रण की भी सुरक्षित विमान यात्रा में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विमान यातायात नियंत्रण की उड़ानों को सफल सुरक्षित तथा व्यवस्थित बनाने का कार्य करता है। यह नियंत्रण दो प्रकार से किया जाता है। पहला तो रडार की सहायता से तथा दूसरा बगैर रडार की सहायता से।

नियंत्रण के समय दो विमानों को एक दूसरे को अलग करने का प्रयास किया जाता है ताकि वे एक दूसरे से न टकराएं अथवा एक दूसरे के समीप खतरनाक तरीके से आएं। विमानों को अलग करने के इस तरीके को वैमानिकी भाषा में पृथक्करण अथवा सेपेरेशन कहते हैं। पृथक्करण तीन प्रकार के होते हैं :

ऊर्ध्वाकार या वर्टिकल : जिसके द्वारा दो विमानों की ऊँचाई में समुचित अन्तर रखा जाता है।

पार्श्विक अथवा लेटेरल : जिसमें दो विमानों को अलग–अलग दिशाओं में रखा जाता है।

अनुदैर्घीय पृथक्करण : जिसमें दो विमानों के बीच में समय का अन्तर रखा जाता है।

विमान नियंत्रण के समय सुरक्षा की दृष्टि से किन्हीं भी दो विमानों के बीच कम से कम एक प्रकार के पृथक्करण का होना अनिवार्य है।

सुरक्षित विमान यातायात एवं नियंत्रण में रडार की महत्वपूर्ण भूमिका है लेकिन अभी हमारे देश में मुम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, चेन्नई, बैंगलोर, हैदराबाद, तिरूवनन्तपुरम, गोहाटी, अहमदाबाद में ही रडार की सुविधा उपलब्ध है। अन्य हवाई अड्डों पर विमान यातायात नियंत्रण का कार्य प्रोसीजरल तरीके से अर्थात् विमानों को बगैर देखे हुए, समय और ऊँचाई के अन्तर के आधार पर किया जाता है जो कि विमान चालक द्वारा दी गई स्थिति की सूचना पर निर्भर करता है। यह नियंत्रण भी पूर्णरूपेण सुरक्षित होता है, विमान सम्बन्धी नियमों का कड़ाई से पालन किया जाता है क्योंकि वैमानिकी क्षेत्र में सुरक्षा सम्बन्धी सभी नियमों का कड़ाई से पालन करना केवल अनिवार्य ही नहीं परम अनिवार्य होता हैं।

वैसे रडार के उपयोग से विमान नियंत्रण अत्यधिक उपयोगी, विश्वसनीय, सुविधाजनक तथा द्रुतगामी हो जाता है। चूँकि रडार में विमानों का बिम्ब दिखता रहता है अतः विमान यातायात नियंत्रक को उनकी स्थिति की पूर्ण रूप से जानकारी रहती है, फलस्वरूप विमानों के नियंत्रण में बहुत आसानी हो

जाती है क्योंकि यह नियंत्रण सैद्धान्तिक गणनाओं के आधार पर न होकर वास्तविकता के आधार पर होता है।

रडार (RADAR) वास्तव में (रेडियो डिटेक्शन एण्ड रेंजिंग) का संक्षिप्त रूप है। भूमि पर स्थित इस संयत्र से आकाश में पराउच्च वाली तरंगे विमानों अथवा अन्य ठोस वस्तुओं से टकराकर परावर्तित होती हैं तथा भूमि स्थित संयंत्रों द्वारा पुनर्ग्रहीत की जाती हैं। इस परावर्तित तथा प्रसारित तरंग के बीच कुछ समय का अन्तर रहता है क्योंकि तरंग को भूमि से विमान तक जाने में और वापस भूमि तक आने में कुछ समय लगता है। समय के इसी अन्तर को तरंग की गति से गुणा करने से हमें रडार यंत्र से विमान की दूरी ज्ञात हो जाती है। इसी परावर्तित तरंग को हम रडार के पर्दे पर विमान के बिम्ब के रूप में देखते हैं। यदि आकाश में कोई विमान नहीं है तो रडार पर्दे पर कोई बिम्ब नहीं दिखेगा, किन्तु विमान के उस क्षेत्र से गुजरते ही रडार के पर्दे पर उसका बिम्ब दिखने लगता है, इसीलिए रडार को निगरानी के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है।

रडार दो प्रकार के होते हैं– प्राथमिक एवं द्वितीयक। प्राथमिक रडार में रेडियो तरंगें भूमि पर स्थित ट्रांसमिटर से प्रसारित होकर विमान तक जाती हैं तथा विमान से टकराकर भूमि पर वापस आती हैं जबकि द्वितीयक रडार में भूमि से प्रसारित तरंगों को विमान में स्थित रिसीवर ग्रहण करता है और प्रत्युत्तर में विमान द्वारा एक अन्य तरंग प्रसारित की जाती है जिसकी आवृत्ति भिन्न होती है। इस प्रकार द्वितीयक रडार केवल वे ही बिम्ब दिखाते हैं जो विमान द्वारा पुनर्प्रसारित किए गए हों जबकि प्राथमिक रडार पहाड़ियों, घने बादलों, ऊँचे भवनों आदि के भी बिम्ब विमान के बिम्ब के साथ दिखलाते हैं।

प्राथमिक रडार काफी भरोसेमन्द संयंत्र हैं किन्तु इनमें एक कमी होती है कि विमान के अलावा अन्य ऊँची वस्तुएँ जैसे पहाड़ियाँ, घने बादलों, ऊँचे भवन आदि भी पर्दे पर दिखाई पड़ते हैं। इससे विमान को उसके बीच से दिखने में कठिनाई होती है। इसके अलावा यह रडार नियंत्रक को विमान की ऊँचाई, गति आदि का भी पता नहीं बताता। इसी कारण नियंत्रक को विमान चालक द्वारा बताई गई ऊँचाई के आधार पर यातायात नियंत्रण करना पड़ता है। साथ ही पर्दे पर दिखने वाली अनेक अवांछनीय वस्तुएँ भी नियंत्रण में व्यवधान उत्पन्न करती हैं। जहाँ तक द्वितीयक रडार की बात है तो इसमें एकदम साफ–सुथरा दिखता है और उस पर केवल सम्बन्धित विमान ही नजर आते हैं। इसके अलावा इस रडार में एक और बड़ी सुविधा उपलब्ध है। विमान द्वारा पुनः प्रसारित तरंगों के साथ विमान का सम्बोधन चिन्ह, उसकी ऊँचाई तथा गति आदि भी साथ ही प्रसारित की जाती है जो रडार के पर्दे पर दिखती रहती है। इस प्रकार विमान यातायात नियंत्रक को इन महत्वपूर्ण बातों की भी जानकारी प्राप्त होती रहती है। हमारे देश में हैदराबाद, त्रिवेन्द्रम, दिल्ली, मुम्बई हवाई अड्डों पर द्वितीयक रडार लगाए जा चुके हैं।

द्वितीयक रडार विमान की वास्तविक ऊँचाई के बारे में जानकारी देता रहता है फलस्वरूप विमानों को आपस में टकराने से आसानी से रोका जा सकता है क्योंकि दो विमान यदि एक ही ऊँचाई पर हैं तो उनके दुर्घटनाग्रस्त होने की प्रबल सम्भावना होती है चाहे वे किसी भी कारण से एक ऊँचाई पर हों।

वास्तव में विमानों की ऊँचाई को तीन प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है। पहली प्रणाली के अन्तर्गत यह ऊँचाई भूमि तल से दर्शायी जाती है किन्तु इसमें एक समस्या यह है कि भूमि की ऊँचाई भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। अतः विमानों के संदर्भ में प्रायः भूमि तल से उनकी ऊँचाई प्रदर्शित नहीं हो पाती है।

दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत विमानों की ऊँचाई प्रदर्शित करने के लिए उनकी ऊँचाई समुद्र तल से दर्शायी जाती है जिसे अल्टीट्यूड कहते हैं। चूँकि प्रत्येक स्थान समुद्र तल से ज्ञात है– जैसे मुम्बई की समुद्र तल से ऊँचाई 8 मीटर, लखनऊ की 122 मीटर, दिल्ली की 245 मीटर आदि। अतः विमान की भूमि तल से ऊँचाई में उस स्थान की समुद्र तल की ऊँचाई का योग करने से विमान की समुद्र तल से ऊँचाई का पता लगता है।

अल्टीट्यूड वैसे तो सफल प्रणाली है किन्तु इसमें भी समस्या आ जाती है जब विमान एक स्थान से दूसरे स्थान तक लम्बी दूरी पर जाता है और अधिक ऊँचाई पर उड़ान भरता है। चूँकि प्रत्येक स्थान की समुद्र तल से ऊँचाई भिन्न–भिन्न होती है अतः इस अवस्था में चालक के लिए यह कठिन हो जाता है कि राह में आने वाले प्रत्येक स्थान की समुद्र तल से ऊँचाई ज्ञात करता रहे।

तीसरी प्रणाली अर्थात् उड़ान तल प्रणाली का उपयोग लम्बी दूरी की यात्रा के लिए किया जाता है। इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अन्तर्गत सम्पूर्ण विश्व के समुद्र तलों की एक मानक ऊँचाई प्रदर्शित की जाती है तथा जब विमान एक विशेष ऊँचाई (समुद्र तल से ऊपर) पहुँच जाते हैं तो इसे उड़ान तल से प्रदर्शित किया जाता है।

ऊँचाई कैसे मापी जाती है ? इसके लिए वायु के दबाव में परिवर्तन के सिद्धान्त का सहारा लिया जाता है। जैसे–जैसे हम भूमि तल से ऊपर उठते जाते हैं वायु का दाब कम होता जाता है। इस दबाव की कमी को ज्ञात करके विमान की ऊँचाई निकाली जा सकती है। इसके लिए यदि भूमि तल पर वायु का दबाव ज्ञात है तो विमान की भूमि तल से ऊँचाई ज्ञात की जा सकती है। तथा अगर सागर तल पर वायु का दबाव ज्ञात है तो सागर तल से ऊँचाई मालूम की जा सकती है। इसी प्रकार फ्लाइट लेबल के लिए वायु के मानक दाक को आधार बनाया जाता है जो कि सम्पूर्ण विश्व के लिए 1013.2 मिलीबार निश्चित किया गया है।

दबाव के माप के लिए प्रेशर आल्टीमीटर नामक यंत्र विमानों में लगाए जाते हैं जो वायु के दबाव की गणना के पश्चात् विमानों की ऊँचाई के रूप में दर्शाया जाता है। चूँकि वायु के दबाव के अन्तर से ऊँचाई ज्ञात की जाती है अतः विमान चालक को भूमि तल या सागर तल अथवा मानक दबाव प्रारम्भ में विमान के आल्टीमीटर में सेट करना पड़ता है और उसी के अनुसार विमान की ऊँचाई भूमि तल या सागर तल अथवा फ्लाइट लेबल से दर्शायी जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार विमानों की ऊँचाई फीट तथा फ्लाइट लेबल को फीट प्रति से प्रदर्शित किया जाता है। इसी प्रकार वायु के दबाव को एच.पी.ए. से प्रदर्शित किया जाता है। किन्तु रूस द्वारा निर्मित विमानों में सामान्यतः ऊँचाई को मीटर तथा वायु के दबाव को मिलीमीटर में प्रदर्शित किया जाता है।

विमान चालक यदि ऊँचाई सम्बन्धी आँकड़ों को अपने–अपने नापों में परिवर्तित करते समय गड़बड़ी करे तब भी दुर्घटना घट सकती है।

जब विमान दुर्घटनाग्रस्त होता है तो इस तरह की घटना में किसका हाथ था अथवा किन कारणों से विमान दुर्घटनाग्रस्त हुआ इन सबका पता लगाने के लिए प्रत्येक विमान में दो **ब्लैक बाक्स** होते हैं जिन्हें **फ्लाइट डेटा रिकार्डर** तथा **कॉकपिट वाइस रिकार्डर** कहते हैं। सी.वी.आर. कॉकपिट के अन्दर की बातचीत तथा रेडियो पर किए गए संकेतों को रिकार्ड करता है तथा एफ.डी.आर. विमान की गति, ऊँचाई, दिशा, समय आदि का रिकार्ड रखता है। ये बॉक्स विमान के पिछले भाग में रखे जाते हैं। रिकार्ड की गई जानकारियों को विशेष यंत्रों द्वारा ज्ञात करके दुर्घटना का समय, दुर्घटना का कारण आदि का पता लगाया जा सकता है।

अब तक की अनेक दुर्घटना जाँच रिपोर्टों के अनुसार अधिकतर विमान दुर्घटनाएँ मानवीय कारणों से बताई गई हैं। इसलिए पायलटों की शारीरिक और मानसिक जाँच नियमित तौर पर होती है। कॉकपिट में अनेक प्रकार के सैकड़ों स्विच होते हैं जिन्हें ठीक से पहचानकर दबाने में गलती की पर्याप्त सम्भावना बनी रहती है और यदि ऐसा हो जाए, चाहे वह विमान चालक की अचेतन अवस्था, नशे या किसी अन्य कारण से हो, तो विमान निश्चित रूप से दुर्घटनाग्रस्त हो सकता है।

ई– 416, हुडको कालोनी
कमला नेहरू नगर
जोधपुर (राजस्थान)

महासागरों के आयाम

शिवेन्द्र कुमार पांडे

हार्सपावर को ऊर्जा माप की प्रथम इकाई के रूप में मान्यता प्राप्त है, लेकिन घोड़े पर सवारी करने के पहले मानव ने पानी में यात्रा करना सीख लिया था क्योंकि आरंभ से ही मानव समुदाय समुद्रतटीय क्षेत्रों में निवास करता आया है जो हमेशा से जीवन के लिए आवश्यक पानी, भोजन, मनोरंजन, परिवहन एवं व्यापार के स्रोत रहे हैं। समुद्रों ने मानव इतिहास एवं विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

हमारी पृथ्वी का लगभग 71 प्रतिशत भाग पानी से आच्छादित है। विश्व की दो–तिहाई जनसंख्या समुद्रतटीय क्षेत्रों की 50 किलोमीटर चौड़ी पट्टी के भीतर निवास करती है। जिनकी जीविका का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आधार समुद्री भण्डार है। भारत की एक–तिहाई जनसंख्या (लगभग 33 करोड़) समुद्रतटीय प्रदेश की 100 किलोमीटर चौड़ी पट्टी के भीतर निवास करती है।

हमारी पृथ्वी में तीन भौतिक क्षेत्र हैं– वायुमण्डल, स्थलमण्डल और जलमण्डल। पृथ्वी में पाए जाने वाले महासागर, समुद्र, नदी, झील, तालाब, हिम जमाव इत्यादि जल–समूहों को संयुक्त रूप से जलमण्डल कहा जाता है। जलीय मण्डल के भीतर सबसे अधिक पानी व्यापक रूप में फैले महासागरों में विद्यमान है। विश्व भर का 97 प्रतिशत या 361,150,000 वर्ग किलोमीटर पानी। शेष बचा पानी झीलों, तालाबों, नदियों हिम क्षेत्रों और धरती के अंतर में भू–जल भण्डार के रूप में मिलता है व इसका थोड़ा अंश वाष्प और बादल के रूप में वायुमण्डल में व्याप्त रहता है। लेकिन अपने विशाल विस्तार के कारण जलमण्डल विश्व पर्यावरण रचना में मुख्य परिवाहक की भूमिका निभाता है।

महासागर तो अपने उद्भव काल से ही ऊर्जा के प्रमुख स्रोत की भूमिका निभाते रहे हैं। वर्तमान वैज्ञानिक मान्यताओं के अनुसार पृथ्वी में जीवन का उद्भव समुद्रों से ही हुआ है।

प्लेट–टेकरानिक्स प्रभाव के अन्तर्गत स्थलमण्डलों की स्थिति एवं आकृति तथा मध्यवर्ती महासागरों का आकार कई बार परिवर्तित हुआ है और परिवर्तन की यह क्रिया सक्रिय रूप से आज भी गतिमान है। तथापित वर्तमान परिदृश्य में समुद्रों का विस्तार इस प्रकार है–

पाँच मुख्य महासागर हैं– प्रशान्त, अटलांटिक, हिन्द, आर्कटिक और अंटार्कटिक महासागर पृथ्वी के दक्षिणी छोर पर तीन प्रमुख महासागरों हिन्द, अटलांटिक एवं प्रशान्त से मिलता है, जबकि आर्कटिक महासागर पृथ्वी के उत्तरी छोर पर अटलांटिक एवं प्रशान्त महासागरों से मिलता है। विस्तार के अनुसार प्रशान्त महासागर 46 प्रतिशत, अटलांटिक महासागर 23 प्रतिशत, हिन्द महासागर 20 प्रतिशत व शेष बचे महासागर 11 प्रतिशत क्षेत्र घेरते हैं।

इन महासागरों के अलावा कुछ प्रमुख प्रकार हैं– अरब सागर, कैरेबियन सागर, चीन सागर, जापान सागर आदि। कुछ ऐसे भी समुद्र हैं जो भूभागों से घिरे बड़े जल समूह हैं व एक संकीर्ण मार्ग द्वारा महासागरों से मिलते हैं, जैसे भूमध्य सागर, बाल्टिक सागर, काला सागर इत्यादि। मृत सागर (डेड सी) जैसे भी कई खारे पानी के समूह हैं जो किसी भी महासागर से जुड़े नहीं हैं। कैस्पियन सागर तो चारों ओर से पूर्णतः स्थलीय प्रदेश से घिरा है। इनके अलावा कई छोटे–बड़े जल पिंड भी विद्यमान हैं, जिन्हें खाड़ी या उपसागर नाम दिया गया है। ये सामान्यतः विशाल समुद्रतटीय रेखा की अवलता (कॅन्कैवइटि) के अंतर्गत समुद्री लहरों के प्रचंड प्रवाह में कटाव से निर्मित, खुले समुद्र व महासागरों से जुड़े होते हैं। समूचे विश्व में स्थानीय महत्व के कई खाड़ी व उपसागर हैं। फिर दो विशाल जलसमूहों को जोड़ने वाले कुछ संकीर्ण जलमार्ग/मार्ग भी हैं जिन्हें

जलडमरूमध्य, चैनल व नहर कहा जाता है। उदाहरण के लिए, रामेश्वरम् द्वीप और श्रीलंका के आखिरी उत्तरी छोर के बीच अवस्थित संकीर्ण मार्ग को 'पाक जलडमरूमध्य' कहा जाता है विश्व के कुछ एक ऐसे स्थानों पर मानव ने नहरों का निर्माण कर दो समुद्रों को आपस में जोड़ दिया है– जैसे स्वेज नहर और पनामा नहर, जिनके कारण पोत–परिवहन होने पर आर्थिक लाभ सभी उठा रहे हैं।

यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से इन सभी को अलग–अलग नाम दिए गए हैं और हम सात समुद्रों की बात करते है, लेकिन वृहत् रूप में पृथ्वी पर एक ही महासागरीय पिंड है। सारे महासागर मिले होने के कारण, पानी, इनमें बिना रुकावट के बहता है। पृथ्वी में प्राकृतिक पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने के अलावा इस विशाल जल पिंड में प्राणी जगत के सबसे अधिक जीव निवास करते हैं व इसमें खाद्य, खनिज, ऊर्जा इत्यादि के भंडार भरे पड़े हैं। समुद्रतटीय क्षेत्रों को अपना निवास स्थान बनाने के पश्चात से ही मानव को समुद्रों की इस क्षमता का ज्ञान होने लगा था। जैसे–जैस जनसंख्या बढ़ने लगी, उसने समुद्र के अंतर से अपने भोजन के लिए खाद्य पदार्थों को खोजना आरंभ कर दिया व इस प्रक्रिया के फलस्वरूप साहसिक समुद्री यात्राओं की नींव पड़ती आरंभ हुई।

दोहन इतिहास

·प्रारंभिक काल से ही मानव पानी में समाई गतिज ऊर्जा का उपयोग करना प्रारंभ कर दिया था। इसकी शुरुआत लकड़ी की बल्लियों को आपस में बाँध कर बेड़ा निर्माण से हुई, जिसके माध्यम से उसने नदी–प्रवाह का उपयोग कर जलयात्रा आरंभ की। फिर नाव व जहाजों का निर्माण करने लगा। इसी क्रम में उसने जल–घड़ी निर्माण में सफलता प्राप्त की।

कुछ समय अंतराल के पश्चात मान ने जल–स्रोतों से यांत्रिक ऊर्जा का दोहन आरंभ कर दिया। मानव निर्मित जल–पहियों का उपयोग कृषि के लिए सिंचाई व्यवस्था में किया जाने लगा। फिर अनुकूल गियर व शाफ्ट के माध्यम से जलपहियों की वृत्ताकार गति का लाभ उठाते हुए अनाज पीसने का कार्य होने लगा।

इसके पश्चात मानव ने पानी को गरम करने पर उत्पन्न वाष्प के माध्यम से इन्जनों का प्रचालन आरंभ किया। इस प्रकार से पानी का उपयोग एक तापीय ऊर्जा–स्रोत के रूप में रेलगाड़ियों क वाष्प इंजन व कल–कारखानों में विभिन्न मशीनों के प्रचालन में किया जाता है। वाष्प इंजनों के उद्भव फलस्वरूप औद्योगिक क्रांति का आरम्भ हुआ।

फिर आरंभ हुआ बिजली का युग। अब चूँकि, एक तार की कुण्डली (कॉइल) को चुम्बक के ध्रुवी टुकड़ों के भीतर घुमाने से बिजली का उत्पादन होता है, इसलिए मानव ने इस सिद्धांत का उपयोग जल–पहियों के माध्यम से बिजली उत्पादन में आरंभ किया। वास्तविक रूप में इस क्रिया के ऊपर से गिरता पानी, पहियों (टरबाइन) के पंखों का घूर्णन आरंभ कर बिजली उत्पादन में सहायक बनता है, क्योंकि उन टरबाइनों के पंखे एक विशिष्ट डिजाइन के होते हैं जिसमें पंखों का निर्माण चुम्बक के ध्रुवी टुकड़ों के ऊपर तार लपेट कर किया जाता है। इस संपूर्ण संघटन को 'जनरेटर' कहते हैं।

इस प्रकार से हाइडल बिजली उत्पादन आरंभ हुआ। लेकिन कई स्थानों पर प्राकृतिक रूप में ऊपर से नीचे गिरता पानी उलपब्ध नहीं होता है। इसलिए ऐसे स्थानों पर पानी में ऊँचाई अंतर प्राप्त करने के लिए बाँधों का निर्माण किया जाने लगा। फिर जहाँ कहीं ऊर्जा के अन्य व्यापारिक स्रोत (कोयला, लिगनाइट, तेल व प्राकृतिक गैस) उपलब्ध थे, वहाँ इन स्रोतों का उपयोग पानी गरम कर वाष्प उत्पादन के लिए किया जाने लगा, ताकि इस वाष्प से वाष्प–टरबाइन को क्रियाशील कर बिजली उत्पादन किया जा सके। इसी प्रकार जब आणविक शक्ति का विकास हुआ जो इसके माध्यम से बिजली उत्पादन के लिए पानी का उपयोग किया जाने लगा। अर्थात् किसी भी विधि से बिजली उत्पादन के लिए पानी एक अनिवार्यता है।

इस दृष्टि से देखने पर लगता है कि महासागरों में तो पानी ही पानी है और भारत की समुद्रतटीय रेखा भी बहुत लंबी है। तब अधिक से अधिक ताप विद्युत संचत तटीय–क्षेत्रों में स्थापित कर समुद्र के इस विशाल पानी भंडार का उपयोग क्यों नहीं किया जा रहा है। इसका कारण है कि समुद्री पानी खारा होने के साथ–साथ

कई खनिजों व लवण पदार्थों से युक्त होता है व उसे वाष्पित करने पर इन अवांछनीय पदार्थों के अंश, वाष्प में समाकर टरबाइन संचालन को प्रवाहित करते हैं। टरबाइन क्षतिग्रस्त होने पर उसका कार्यकाल बहुत कम हो जाता है ओर बिजली उत्पादन क्षमता शीघ्रता से घट जाती है।

लेकिन ऐसा भी नहीं है कि समुद्र के पानी का उपयोग बिजली उत्पादन में नहीं किया जा सकता है। समुद्र से बिजली उत्पादन के लिए उसके पानी में समाए अन्य गुणों जैसे तापमान अंतर व लहरों की गति ऊर्जा का उपयोग कर मानव बिजली उत्पादन करने लगा है।

फिर महासागरों में उल्लिखित गतिज ऊर्जा स्रोत के अलावा कोयला और तेल व प्राकृतिक गैस जैसे व्यापारिक ऊर्जा स्रोत भी पाए जाते हैं। स्काटलैण्ड और जापान में समुद्र के अंतर से कोयला खनन कार्य वर्षों से किया जा रहा है। जापान में तो स्वदेशी कोयले का एक मात्र स्रोत समुद्र है, लेकिन अपनी कुल आवश्यकता पूर्ति के लिए उसे भारी मात्रा में कोयला आयात करना पड़ता है। तेल व प्राकृतिक गैस उत्पादन के लिए 'आफ शोर प्लेटफार्म' तो आम बात बन चुके हैं, शायद ही कोई ऐसा शिक्षित भारतीय होगा जिसने 'मुम्बई हाई' का नाम न सुना हो। हाल के वर्षों में समुद्र की गहराइयों में 'मिथेन हाइड्रेट' जैसे ऊर्जा स्रोतों के खनन विषय में व्यापारिक स्तर पर सोचा जाने लगा है।

अर्थात् स्थलमण्डल के समान जलमण्डल के अंतर पर भी कई प्रकार के ऊर्जा स्रोत समाए हुए हैं। लेकिन वर्तमान में हमें इस विषय में बहुत कम जानकारी है क्योंकि इस ओर मात्र 50 वर्ष पूर्व से ही आधुनिक मानव गंभीरता पूर्वक इनके दोहन का प्रयास कर रहा है।

भारत में महासागरों के महत्व का ज्ञान वैदिक काल से ही रहा है। वैदिक ग्रंथों की एक पौराणिक कथा के अनुसार देवगणों, असुरों व दानवों ने साँपों के राजा 'नागराज वासुकि' को रस्से के समान 'मन्दराचल पर्वत' के चारों ओर लपेट कर एक मथनी बना कर समुद्र का मंथन किया। पर्वत के नीचे कोई आधार न होने के कारण भारी मंद्राचल पर्वत डूबने लगा। तब भगवान ने एक विशाल कछुए (आदिकच्छप) का रूप धारण कर उसे यथा स्थान संभाला और मंथन कार्य सुगम हो गया। इस कथा का विस्तृत विवरण पढ़ने पर स्पष्ट समझ आता है कि उस काल में भी आज के समान वेधन छिद्र निर्माण कला का ज्ञान पराकाष्ठा प्राप्त कर चुका था। इस मंथन क्रिया के दौरान समुद्र के अंतर से हलाहल विष, कामधेनु गाय, श्वेत वर्ण घोड़ा, एरावत हाथी, कौस्तुभ मणि, कल्पवृक्ष, अप्सराएँ, कमल के फूल में विराजमान लक्ष्मी देवी, वरुणी देवी और अन्त में धन्वन्तरि (आयुर्वेद के प्रवर्तक) अपने हाथ में अमृत भरा कलश लिए प्रकट हुए। यह कथा 'समुद्र मंथन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस कथा से स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस काल के भारतीय विद्वानों को समुद्रों के विविध भंडारों के विषय में यथेष्ट ज्ञान था।

हड़प्पावासी (3000–1500 ईसा पूर्व) भी कच्छ की खाड़ी में ज्वार–भाटा से परिचित थे और उनका उपयोग अंतर्देशीय गोदी व घाट परिचालन में करते थे व नाविकों को अपनी समद्र यात्रा के लिए नियंत्रक वायु–प्रवाह का अच्छा ज्ञान था। 'शत्पथ ब्राह्मण' (एक वैदिक टीका) जैसे वैदिक साहित्य के अनुसार समुद्री जल में प्रवाह व गति का आधार हवा है। रामायण में ज्वार–भाटा का सम्बन्ध चन्द्रमा से और महासागर का मौसम पर प्रभाव का वर्णन मिलता है। कौटिल्य शास्त्र (लगभग 2400 ईसा पूर्व) में कई खनिजों व उनके अयस्कों, मणि–रत्नों, समुद्री खनिजों, प्लेसर भंडारों आदि के विस्तृत भूवैज्ञानिक विवरण के साथ साथ उनके खनन प्रणालियों 'महासागर खन्याध्यक्ष (स्यूपरिन्टेन्डेन्ट आफ ओशन माइनिन्ग) की भी चर्चा की गई है जो समुद्री खनन कार्य का संचालन करता था। मोती, मूँगा, नमक, शंख, सींपी, आदि। चरक संहिता में समुद्री नमक के औषधीय गुणें का वर्णन मिलता है।

प्राचीन भारतीय भाषाओं (संस्कृत, पाली और तमिल) में निहित शास्त्रीय साहित्य समुद्री विज्ञान व यात्राओं के संदर्भ से भरा पड़ा है। पन्द्रह से अठारहवें शतक के बीच भारत की स्थानीय बोलचाल की भाषाओं (तमिल, तेलुगू, बंगाली, उड़िया, कच्छी, काठियावाड़ी) में लिखी गई पुस्तकें आज भी उपलब्ध हैं जिनमें समुद्री अनुभवों/मार्गदर्शन व निर्देश, समुद्री–दूरी, गहराई व दिशा ओर विशेष तटवर्ती क्षेत्रों के बंदरगाहों की पहचान के लिए विभिन्न भू–चिन्हों का विवरण, समुद्र के विशाल

क्षेत्रों संबंधी आँकड़ों की तालिकाएँ, समुद्री खतरों और नौका विहार करने के लिए अनुकूल समय व दिन तथा आने वाले हर खतरे के पूर्वाभास के बारे में वर्णन किया गया है। इनमें से कुछ पुस्तिकाओं में रेखा चित्र व नक्शे भी मिलते हैं। लेकिन यह समूचा ज्ञान भंडार सदियों से चली आ रही यात्राओं के दौरान नाविकों के निजी अनुभव, अवलोकन व नक्षत्र ज्ञान पर आधारित था क्योंकि उस समय तक समुद्र की गइराई नापने वाले यंत्र का विकास नहीं हुआ था। फिर भी ये पुस्तिकाएँ तकनीकी दृष्टि से उत्तम दस्तावेज हैं।

भारतीय ब्रिटिश–काल (1757–1947) के आरंभ होते समय तक भारत में समुद्री यातायात एक समृद्ध उद्योग के रूप में स्थापित था, पर औद्योगिक क्रांति का युग आरंभ होने पर भारत इस क्षेत्र में कुछ पिछड़ने लगा। लेकिन ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में महासागरों के विषय में विधिवत रूप में वैज्ञानिक अध्ययन प्रारंभ किया गया। इस कार्यक्रम के अंतर्गत हुगली नदी (कलकत्ता) में ज्वार भाटा अवलोकन कार्य 1767 में आरंभ किया गया। भारतीय समुद्र में हवा और चक्रवात का प्रथम जलवायविक मानचित्र 1801 में बनाया गया। भारतीय समुद्रों का जल–सर्वेक्षण कार्य 1832 में आरंभ हुआ था। भारतीय मौसम विभाग की स्थापना 1875 में हुई थी। समुद्री अनुसंधान को गतिशील व प्रभावशाली बनाने के लिए 1882 में 'सागर विकास विभाग' की स्थापना भारत में की गई।

भौतिक सीमा व परिवेश

बीसवीं सदी के आरंभ तक समुद्रों की अंतर्जलीय विशिष्टता और उनमें रहने वाले जीव–जन्तुओं के बारे में मानव को पता नहीं था। महासागरों की वास्तविक गहराई का पता 1920 में ज्ञात हुआ जक 'इकोसाउन्डर' नामक उपकरण का आविष्कार हुआ। पिछले 80 वर्षों की खोज के साथ समुद्र तलों के विषय में मानव ज्ञान बहुत बढ़ा है। अब यह समझ आने लगा है कि महासागर तल भी पृथ्वी के भूभाग का अंग है और भूसतह के समान जटिल व अनियमित है।

जमीन और समुद्री पानी की सीमा को 'तटीय रेखा' कहते हैं, जिसके स्वरूप का निर्धारण उस क्षेत्र में सक्रिय ज्वार–भाटा व लहरों के वेग द्वारा निर्मित होता है। तट से समुद्र की ओर अग्रसर भूभाग की सीमा को 'पुलिन' (बीच) कहते हैं और इनकी सीमा उच्चतम व निम्नतम ज्वार–भाटा स्तर के मध्य होती है। पुलिन दो प्रकार के हो सकते हैं– बालू भूरे या चट्टानी। तटीय रेखा विशेषकर चट्टानी तट, समुद्र का सबसे सजीव भाग होता है, क्योंकि यहीं पर अधिक समुद्रीय पौधे व जीव–जन्तु निवास करते हैं।

भारत की तटीय रेखा (पाकिस्तान व बंगलादेश के बीच) लगभग 5500 किलोमीटर लम्बी है। इसके किनारे–किनारे स्थित, पुलिनों से भरे संकीर्ण पट्टी समान क्षेत्र में कच्छीय वनस्पति, मड़–फ्लैट्स, दलदल, ज्वारीय खाड़ी (टाइडल क्रीक), बालू घाट, झील, अनूप, प्रवाल तट (कोरल शोर्स), खड़ी चट्टानों और ऊबड़–खाबड़ शिलाओं से युक्त भूभाग भारतीय उपमहाद्वीप को एक अपरिष्कृत रत्नों के हार के समान शोभायमान करता प्रतीत होता है जिसमें जीवन के अनेक रूप दिखाई देते हैं। इस सँकरे तटीय क्षेत्र में जहाँ कहीं भी बालू तट विद्यमान हैं उनमें 'मोनाजाइट' खनिज के भण्डार पाए जाते हैं, जो आणविक ऊर्जा का एक प्रमुख स्रोत है। इन बालू तटों में पाए जाने वाले मोनाजाइट भण्डार की क्षमता विश्व में सबसे अधिक है।

पुलिनों के पश्चात समुद्र की ओर अग्रसर होने पर तट का विस्तार एक छिछले समतलीय प्लेटफार्म के रूप में होता है जिसे 'महाद्वीपीय शेल्फ़' कहते हैं। प्रायः समुद्र का 8 प्रतिशत इलाका इन्हीं शेल्फ़ क्षेत्र में होता है। कई शेल्फ़ों की सतह अनियममित होती है (तटों, अनूपों व घाटियों का मिला जुला स्वरूप), लेकिन कुछ की सतह चिकने फर्श के समान होती है। इनकी चौड़ाई 20 से 100 किलोमीटर तक होती है, लेकिन इनका औसतमान लगभग 65 किलोमीटर तक सीमित होता है। कई शेल्फ़ क्षेत्र आर्थिक महत्व के होते हैं क्योंकि अधिकतर मत्स्यकी क्रियाएँ यहीं होती हैं यहाँ कोयला व तेल/प्राकृतिक गैसें जैसे व्यापारिक ऊर्जा स्रोतों भंडारों के अलावा कई अन्य खनिज भंडार पाए जाते हैं। भारत का प्रसिद्ध तेल व गैस उत्पादन क्षेत्र 'मुम्बई हाई' भी शेल्फ़ प्रदेश में ही अवस्थित है। हाल के वर्षों में (1990 के दशक) भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग ने भारतीय शेल्फ़ क्षेत्र में

इल्मेनाइट, स्टाइल, जिरकॉन, गार्वेट, मोनाजाइट, मैग्नेटाइट, मैंगनीज पिण्ड, काल्केरियस तलछट, चूना मिट्टी, फास्फेट, स्वर्ण, सिलोमेनाइट, आदि खनिज भंडारों की खोज की है जिनका भविष्य में खनन किया जा सकता है।

शेल्फ़ क्षेत्र का अंत महाद्वीपीय–कोर (एज) में होता है, जिसके बाद ही समुद्र–तल अत्यधिक ढलान धारण कर काफी गहराई प्राप्त करने लगता है। यह ढलान महासागरीय घाटी के फर्श तक पहुँच कर अकसर 3000 से 6000 मीटर की गहराई व कहीं–कहीं इससे भी अधिक गहराई प्राप्त कर लेती है।

महासागरीय फर्श की एक अवधारणा विशिष्टता है उनमें 'V' आकार की या सीधी खड़ी ढाल समान अंतः सागरी गभीरखड्ड (कैन्यन) व खाई कई स्थानों पर विद्यमान होना। लेकिन ये खड्ड समुद्र तटों से दूर, केवल उन स्थानों पर विराजमान हैं जहाँ नदियाँ समुद्र से मिलती हैं। इन गहरे खड्डों का प्रमुख कार्य है नदियों द्वारा लाए गए तलछटों को गहरे समुद्रों तक ले जाने के लिए मार्ग उपलब्ध कराना। इस प्रकार के 120 अंतः सागरी गभीरखड्ड विश्व के महासागरों में पाए जाते हैं। कुछ प्रमुख खड्ड कांगो, सिन्धु और गंगा नदियों से दूर स्थित हैं।

महाद्वीपीय ढलान के निचले भाग में ढाल कम हो जाती है जिसे 'महाद्वीपीय उत्थान' कहते हैं। गहरा समुद्र तल, विश्व के महासागरों का सबसे निचला भाग होने के अलावा उनका सबसे विशाल विस्तार क्षेत्र है। महाद्वीपीय ढलान के पश्चात् से महासागरों का फर्श महाद्वीपीय उत्थान के साथ–साथ चौरस होना आरंभ कर विशाल रूप धारण कर लेता है जिसे 'वितलीय सपाट' (ॲबिसॅल प्लेन) कहते हैं। यह वस्तुतः कई हजार किलोमीटर तक समतल होता है। ये गहन वितलीय सपाट, महासमुद्रों के स्वरूप की अनूठी विशिष्टता हैं क्योंकि इस विशाल स्तर के लम्बे चौड़े समतल मैदान पृथ्वी की भूसतह में कहीं नहीं पाए जाते है। यह सपाट सामान्यतः लम्बे–चौड़े समतल मैदान पृथ्वी की भूसतह में कहीं नहीं पाए जाते है। यह सपाट सामान्यतः 3000 से 6000 मीटर तक की गहराई में पाए जाते हैं और पृथ्वी की सतह का लगभग 30 प्रतिशत हिस्सा बनाते हैं। अटलांटिक और हिंद महासागर में कई वितल सपाट हैं, जबकि प्रशान्त महासागर में ऊबड़–खाबड़ स्थलाकृति होने के कारण अपेक्षाकृत कम हैं। गहरे समुद्रों का तल कई जीव जन्तुओं, पौधों और अन्य सिलिकामय निक्षेपों से ढँका होता है।

इस वितलीय सपाट की प्रमुख विशेषता है कि पहाड़ी, पर्वत श्रृंखला और कम या अत्यधिक गहराई लिए खाइयों की उपस्थिति, जो प्रायः पृथ्वी की भूसतह की विशिष्टताओं के समरूप होती है। इस विशाल क्षेत्र में गतिमान प्राकृतिक क्रियाकलापों के फलस्वरूप ही पृथ्वी में विवर्तनिक गतिविधियाँ सक्रिय रहती हैं। प्रशान्त महासागर की मरिआनस (11,022 मीटर गहरी), टोंगा (10,800 मीटर गहरी) और हिन्द महासागर (9,110 मीटर गहरी) कुछ प्रमुख खाइयाँ हैं।

ज्वार भाटा

महासागरों का पर्यावरण हवा, वर्षा, तापमान, प्रकाश, ज्वार भाटा समुद्र जल लवणता, धारा प्रवाह ओर लहरों जैसी जलवायविक परिस्थितियों से बहुत प्रभावित होता है। ज्वार भाटा, समुद्र सतह का आवर्ती (पिरियाडिक) उतार–चढ़ाव है। ये सूर्य और चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षी खिंचाव के कारण घटित होते हैं। लेकिन चंद्रमा का प्रभाव इसमें अधिक होता है क्योंकि सूर्य की तुलना में वह पृथ्वी के अधिक समीप है।

ज्वार भाटा तीन प्रकार के होते हैं :–

(अ) दैनिक– एक दिन के 24 घंटों में एक बार बढ़ता और एक बार उतरता जल।

(ब) अर्ध दैनिक– प्रत्येक 12 घंटे के अंतराल में एक चढ़ता व उतरता जल चक्र, अर्थात् 24 घंटे के एक दिन में दो बार।

(स) मिश्रित– इसमें पानी के क्रमिक और चढ़ाव व उतार में भिन्नता होती है।

भारतीय तटीय क्षेत्र में सामान्यतः अर्ध दैनिक ज्वार भाटा आते हैं। मिश्रित ज्वार–भाटा प्रशांत महासागर और अमेरिका के तट पर अधिक सामान्य हैं। इस अंतर के अलावा उच्च–ज्वार का जल स्तर परिसर भी हर स्थान पर एक नहीं होता है। विश्व में सर्वाधिक ऊँचे ज्वार भाटा फन्डी–खाड़ी (कनाडा) में सक्रिय दिखाई देते

हैं जहाँ इनकी ऊँचाई 13 मीटर तक की होती है। सामान्यतः ऊँचे परिसर वाले ज्वार भाटा की सक्रियता खाड़ी, उपसागर और नदी प्रमुख के क्षेत्रों में पाई जाती है और ऐसे क्षेत्र नौपरिवहन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

फ्रांस, कनाडा, रूस व कई अन्य देशों में इस प्रकार के उच्च ज्वार परिसर का उपयोग बिजली उत्पादन में किया जा रहा है व इसकी पहचान 'ज्वारीय ऊर्जा स्रोत' के रूप में स्थापित हो चुकी है। कुछ नदियों में ज्वार का परिसर विशाल होता है और इस प्रतिभास को ज्वारभित्ति (टाइडल बोर) कहते हैं। उदाहरण के लिए कलकत्ता में हुगली नदी को विश्व की सबसे खराब ज्वारभित्तियों को झेलते रहना पड़ता है। इस दौरान नदी का जल स्तर, उच्च और निम्न ज्वार--भाटा के बीच प्रायः 9 मीटर तब बदल सकता है।

फिर समुद्र की लहरों का प्रचालन असामान्यत निर्माण करता रहता है। इन लहरों के प्रसार के मुख्य कारक हैं : हवा प्रवाह, चंद्रमा का गुरुत्वाकर्षण व भूकम्प। लेकिन अधिकतर लहरें हवा के कारण बनती हैं जिनका परिसर कुछ सेंटीमीटर से 30 मीटर से भी अधिक हो सकता है। लहरों का ज्ञान और उसकी विशिष्टता का ज्ञान मछली पकड़ने, जहाज डिजाइन निर्माण, जेटी निर्माण, समुद्री तरंग रोध और तटीय रोधक निर्माण में सहायक होता है। विद्युत उत्पादन के लिए भी तरंगों का उपयोग किया जाता है।

भूकम्पी सागर तरंग या 'सुनामी' (एक जापानी शब्द), एक अन्य प्रकार की महासागरीय तरंग है जो कभी–कभी समुद्री पानी को नाटकीय रूप से प्रभावित करती है। ये अंतःसमुद्री भूकम्पों या ज्वालामुखी उद्‌गारों से उत्पन्न होती हैं। सुनामी 282 किलोमीटर प्रति घंटा तक की गति प्राप्त कर महासागरों को पार करती हुई भ्रमण करती हैं और तटीय क्षेत्रों में पहुँचने पर जान–माल को भारी नुकसान पहुँचाती हैं। प्रशान्त महासागर क्षेत्र (हवाई और जापानी द्वीपों) में जहाँ भूकम्प व ज्वालामुखी क्रियाएँ अधिक सक्रिय हैं, वहाँ ये आमतौर पर देखी जाती हैं।

केवल सुनामी ही नहीं वरन् तेज हवाओं, तूफानों और चक्रवाती मौसम से उत्पन्न अन्य प्रकार की तरंगें भी तट रेखाओं और समुद्र की अन्य प्रक्रियाओं को प्रभावित करती हैं। इन झंझावातों को विश्व में विभिन्न नामों से जाना जाता है– हिन्द महासागर में 'चक्रवात (साइक्लोन),' अटलांटिक और प्रशान्त महासागरों में प्रभंजन (हरिकेन) और उत्तर पश्चिमी प्रशान्त और चीन सागर में 'टाइफून' भारतीय तट रेखा के साथ–साथ बंगाल की खाड़ी (पूर्वी तट) में एक वर्ष में लगभग 8–10 चक्रवात आते हैं, जबकी अरब सागर (पश्चिमी तट) में प्रति वर्ष एक चक्रवात आता है।

प्रकाशीय गुण

समुद्र जल के प्रकाशीय गुण का प्रभाव, महासागरों में घटने वाली जैविक क्रियाओं की सक्रियता एक मूलभूत स्थान रखता है क्योंकि सौर विकिरण ही महासागर जल को गर्मी प्रदान करने का मुख्य स्रोत है। सूर्य प्रकाश की किरणें समुद्र को एक सीमित गहराई तक ही भेदती हैं और पानी में प्रवेश के पश्चात विसरित परावर्तकता झेलते हुए उसके भीतर अवशोषित हो जाती हैं। इस क्रिया में किरणों का कुछ अंश समुद्री जल की ऊपरी सतह में समाकर उसे गरम कर देता है और सोलर स्पेक्ट्रम का बैंगनी से लाल भाग कुछ अधिक गहराई तक बिखर जाता है। लेकिन स्पेक्ट्रम का नीला भाग अन्य सभी रंगों की अपेक्षा (पीला, लाल, इनफ्रारेड आदि) अधिक गहराई तक पहुँचता है और इसी कारण महासागरों की जल सीमा हमें नीले रंग की दिखाई देती है।

साफ पानी में प्रकाश किरणें 100 मीटर से अधिक गहराई तक प्रवेश कर जाती हैं। लेकिन तटीय क्षेत्रों में पानी गंदला होने के कारण उनका प्रवेश मात्र 10 मीटर तक ही हो पाता है क्योंकि समतल प्रकाश इस ऊपरी परत में विद्यमान निलंबित कणों व तैरते पदार्थों द्वारा अवशोषित हो जाता है। अब चूँकि सौर प्रकाश के प्रभाव में प्रकाश संश्लेषण के माध्यम से विकासरत रहना पौधों की अनिवार्यता है, इसी कारण तटीय क्षेत्र जैविक समृद्धता से भरपूर होते हैं व उनका पानी हरा रंग धारण किया दिखता है। वास्तविकता या है कि इन हरे पदप्लावकों (फाइटप्लैन्क्टन) का हरा वर्णक क्लोरोफ़िल प्रकाश तरंगों के नीले भाग को शोषित कर लेता है और पानी हरा दिखाई देता है। महासागरों के इन प्रकाशीय

गुणों के कारण, समुद्र में पाए जाने वाली वस्तुओं और जीवों का रंग भिन्न दिखाई देता है। लाल व पीली वस्तुएँ गहरे रंग की या काली दिखाई देती हैं, जबकि नीली और हरी वस्तुएँ हर गहराई पर वैसी ही दिखाई देती हैं। इसी प्रकार समुद्री पानी में भिन्न–भिन्न पदार्थों की उपस्थिति के कारण समुद्र का रंग हर जगह समान नहीं दिखता है।

महासागरों की एक अन्य भौतिक विशेषता है– इनके जल का तापमान। सौर विकिरण के समुद्री पानी में अवशोषित होने से महासागर की सतह गरम हो जाती है और इससे विभिन्न तापमान वाली तीन परतें बनती हैं:–

1. सतहः ऊपर से प्रायः 50 से 100 मीटर गहराई तक। यह क्षेत्र गर्मी, ठंडक, वाष्पन और वर्षा में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होता है। ध्रुवीय क्षेत्र में समुद्र सतह का पानी जम कर समुद्री हिम बनाते हैं। सतह क्षेत्र में सबसे हल्का और सबसे गरम पानी होता है।

2. पीकोनाक्लाइन : यह सतह क्षेत्र के नीचे 2000 मीटर गहराई तक होता है। इस क्षेत्र में पानी का घनत्व गहराई के साथ–साथ लवणता वृद्धि (समुद्र जल में मौजूद कई खनिजों के कारण) के अनुपात अनुसार बदलता रहता है व अपने घनत्व के कारण स्थिर रहता है। लेकिन ध्रुवीय जल में यह पीकनोक्लाइन क्षेत्र नहीं पाया जाता है।

3. गहरा : यह एक विशाल क्षेत्र है जो महासागरों के पीकनोक्लाइन क्षेत्र से वितलीय क्षेत्र तक फैला होता है। 4000 मीटर गहराई के पश्चात् इस जल की लवणता 35 पाट्स पर थाउज़ैन्ड (पी.पी.टी.) के आस पास एक समान होती है। इस गहरे पानी में तापमान व लवणता दोनों स्थिर होने के कारण इस क्षेत्र का पर्यावरण एक समान होता है।

पृथ्वी के अभिविन्यास (ओरिएन्टेशन) के कारण ध्रुवीय क्षेत्रों को कम सौर ऊर्जा मिलती है। जबकि उष्णकटिबंधीय और उपोष्ण क्षेत्र (भूमध्यरेख के समीप) गरम हो जाते हैं। पृथ्वी के भूस्थलों में समाया ताप शीघ्रता से निर्मुक्त होता है, लेकिन महासागरों के गरम जल से ताप ऊर्जा धीरे–धीरे निर्मुक्त होती है। महासागरों से निर्मुक्त होती यही ताप ऊर्जा वायुमण्डल को गरम करती है और वहाँ की हवा प्रसारित (इक्सपैंड) होने पर उच्च दाब क्षेत्र निर्माण होता है और यह हवा निम्नदाब क्षेत्रों (भूस्थलों) की ओर अग्रसर हो बहने लगती है। वास्तव में, ऊपरी तीन मीटर जल में इतनी गर्मी होती है, जितनी कि उपरीशायी वायुमण्डल में होती है। वायुमण्डल की तरह, महासागर में भी सतह तापमान सब जगह एक समान नहीं होता है। विश्व के महासागरों का तापमान विषुवतीय क्षेत्र में प्रायः 28°C से लेकर ध्रुवीय जल में 0°C से भी कम होता है जहाँ पानी जम जाता है।

ऊपरी क्षेत्र के मिश्रित पानी में एक समान तापमान होने के कारण उसे 'समतापीय क्षेत्र' कहते हैं और यह गहराई तक वाहित हो अधस्थली ठंडे जल को गरम करता है। 200 से 1000 मीटर गहराई का पानी क्षेत्र 'ताप प्रवणस्तर' (थर्मोक्लाइन) कहलाता है, क्योंकि इस क्षेत्र में गहराई बढ़ने के साथ–साथ तापमान घटता है और पानी का घनत्व बढ़ता है। प्रायः सभी समुद्रों के ताप–प्रवणस्तर, मूल रूप में पीकनोक्लाइन क्षेत्र के विस्तार का निर्धारण करते हैं। लाल सागर व फारस की खाड़ी, जैसे परिबद्ध जलाशयों में जल का तापमान बहुत अधिक हो जाता है, कभी–कभी 32°C से भी अधिक हो इन्हें विश्व का अत्यधिक गरम समुद्र बनाता है। ऐसा, जल मिश्रण के लिए पर्याप्त परिसंचरण अभाव के कारण होता है। अपार महासागर, एक विशालकाय ताप नियंत्रक इंजन के समान पानी द्वारा अवशोषित ताप ऊर्जा को धीरे–धीरे निर्मुक्त कर फिर उसे हजारों किलोमीटर दूरी तक वाहित करने का कार्य करते हैं। यह महासमुद्रों की अद्वितीय विशेषता है, क्योंकि भूखण्डों में तापमान शीघ्रता से अवशोषण व निर्मुक्त होने की क्रिया विद्यमान है।

समुद्री पानी की ऊपरी व निचली गहराई में तापमान अंतर का उपयोग बिजली उत्पादन के लिए किया जाता है। बिजली उत्पादन की इस विधि में अमोनिया, प्रोपेन, फ्रेआन–12, फ्रेआन–22 जैसे कम तापमान में खौलने वाले द्रव्य को गरम करने के लिए समुद्र सतह क्षेत्र का गरम जल उपयोग करते हैं और इस प्रकार प्राप्त वाष्प द्वारा टरबाइन घूर्णन के जनरेटर चालू हो बिजली उत्पादन करने लगता है। टरबाइन रोटर का घूर्णन आरंभ करने के पश्चात वाष्प को एक संधारित्र में ले जाते हैं जहाँ समुद्र की 1000 मीटर गहराई से खींच कर लाए

गए ठण्डे पानी का परिसंचरण करते हैं। ठंडे पानी के सम्पर्क में आने पर वाष्प फिर सघन रूप प्राप्त कर लेता है। इस बिजली उत्पादन विधि को 'ओशन थर्मल एनर्जी कन्वर्शन सिस्टम' (ओ.टी.इ.सी.) कहत हैं।

महासागरों की औसत लवणता लगभग 35 पी.पी.टी. होती है, परन्तु यह साधारणतया महासागरों के विभिन्न क्षेत्रों में 32–37 पी.पी.टी. के बीच बदलती रहती है। इसके अपवाद भी हैं– भूमध्यसागर में 38 से 39 पी.पी.टी. जबकि लाल सागर में 40 से 41 पी.पी.टी.। इस प्रकार के अधिक लवणता के पानी में स्नान करने वाले डूबते नहीं बल्कि बहते रहते हैं। लवणता सौर विकिरण के अवशोषण में वृद्धि करती है। कुल मिलाकर महासागर की संरचना, सतह और सतह के नीचे पानी के बहाव, समुद्री पौधों व जीवों का वितरण कुछ सीमा तक लवणता द्वारा ही निर्धारित होता है।

हवा, वायुमंडलीय दबाव और समुद्रजल के घनत्व के संयुक्त प्रभाव के कारण महासागर में कई प्रमुख धारा–प्रवाह पाए जाते हैं। तापमान और लवणता के कारण बदलते घनत्व से प्रभावित जल प्रवाह को 'थर्मोहैलाइन परिसंचरण' कहते हैं। इसका परिचालन सतह के पानी का घनत्व बढ़ाने पर होता है– या तो सीधे ठंडा होने पर अथवा अप्रत्यक्ष रूप में बर्फ़ जमने पर, घनत्व वृद्धि के कारण। हवा द्वारा परिसंचरण सामान्यतः समुद्र के ऊपरी कुछ सौ मीटर तक होता है।

महासागर का धारा प्रवाह, थर्मोहैलाइन और हवा द्वारा संचालित गति के संयुक्त प्रभाव के कारण होता है। इन दोनों प्ररूपों में पानी बहुत दूर तक भ्रमण करता है और इसी कारण ये जलप्रवाह महासागर में सर्वत्र देखे जाते हैं। इसके अलावा, पृथ्वी का घूर्णन भी महासागर के धारा प्रवाह को प्रभावित करता है, जिसे 'कॉरिओलिस बल' कहते हैं।

महासागारों के धारा प्रवाह की गति लगभग 10 किलोमीटर प्रतिदिन होती है। लेकिन खाड़ी धारा (अटलांटिक) और कुरोशिया (प्रशान्त) प्रवाह में कभी–कभी यह 100 से 160 किलोमीटर प्रतिदिन तक पहुँच जाता है। महासागर में पानी के मिश्रण के साथ–साथ धाराएँ निकटस्थ देशों के मौसम निर्धारण में एक विशिष्ट भूमिका निभाती हैं। गर्मी को धीरे–धीरे अवशोषित और निर्मुक्त कर तथा पृथ्वी के मौसम को प्रभावित करने की धाराओं की इस भूमिका के कारण महासागर एक विशालकाय नियंत्रक तंत्र के रूप में सदैव सक्रिय रहते हैं।

उष्णजलीय निकास

हाल के वर्षों मे समुद्रों के फ़र्श में कई स्थानों पर 'तप्त स्थलों' की जानकारी मिली है, जिनका निर्धारण स्थान विशेषों में अचानक असामान्य तापमान विभिन्नता मापन के ज्ञान से संभव हुआ है। इनको 'उष्णजलीय निकास/द्वारमुख' कहा जा रहा है।

इन निकास मार्गों से गरम तरल पदार्थ (350°C) समुद्र जल में उत्सर्जित होता रहता है और ये स्थान समुद्री फर्श में ऊर्जा के स्रोत हैं। इस प्रकार के एक 20 सेंटीमीटर व्यास वाले द्वारमुख स्थल से उत्सर्जित 350°C ताप युक्त तरल पदार्थ 108 वाट प्रति सेकण्ड ऊर्जा में परिवर्तित किया जाए, तो एक मुख्य निकास स्थल के माध्यम से 10^9 वाट उपयोगी ऊर्जा का उत्पादन संभव है।

एक अनुमान के अनुसार यदि इस प्रकार की सभी समुद्री उष्णजलीय निकास स्थलों से ऊर्जा उत्पादन किया जाए, तो वर्तमान में तेल से उपलब्ध होने वाली कुछ ऊर्जा का 25 प्रतिशत प्राप्त किया जा सकता है।

ये निकास क्षेत्र ऐसे स्थानों में विद्यमान हैं जहाँ समुद्रतल फैल रहा है। इन निकास मार्गों में अकसर नलिका कृमि (सूक्ष्म जीवाणु), केंड़े और द्विकपाटी (सीपी) जैसे विशिष्ट जीवन स्वरूप (अत्यधिक तापमान को सहन कर जीवित रहने वाले) भी पाए जाते हैं। वितलीय गहराई में पाए जाने वाला, जीवन का यह मरुउद्यान (ओएसिस) बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इनके अलावा पृथ्वी में पाए जाने वाले अन्य जीवन स्वरूप 30°-40°C से अधिक तापमान पर जीवित नहीं रह सकते हैं।

📖 छवि निकुंज, बांस बंगलो कम्पाउंड
चौथी क्रासिंग, रांची रोड
पुरूलिया (पं0 बंगाल), पिन–723 101

वैज्ञानिक परीक्षणों से उत्पन्न लाइलाज बीमारी 'सीजेडी'

डॉ. गणेश कुमार पाठक

वैज्ञानिक परीक्षणों से जहाँ एक ओर अनेक रोगों का उपचार सुगम हो गया है वहीं इन वैज्ञानिक परीक्षणों ने अनेक लाइलाज बीमारियों को भी जन्म दिया है। अभी कुछ समय पूर्व इंग्लैण्ड में 'मैडकाऊ' नामक बीमारी का आतंक छाया रहा जो पूरे विश्व में चर्चा का विषय बना रहा। यह 'मैडकाउ' बीमारी वैज्ञानिक परीक्षणों की ही देन थी। अब इसी तरह के वैज्ञानिक परीक्षणों ने एक और नई बीमारी को जन्म दिया है जिसे 'सीजेडी' (कूट्जफेल्ट जैकब डिसीज) नाम दिया गया है और वैज्ञानिकों ने इस बीमारी को भी एड्स की तरह लाइलाज माना है।

मनुष्यों में फैलने वाली इस लाइलाज बीमारी 'सीजेडी' ने विश्व भर के डाक्टरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। अनुसंधानकर्ताओं का कहना है कि 'सीजेडी' चिकित्सकीय परीक्षणों की देन है। वाशिंगटन के अभी हाल में ही प्रकाशित एक समाचार पत्र के अनुसार अनेक बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत सहित विकासशील देशों पर बेधड़क नई दवाओं का परीक्षण कर रही हैं। इन परीक्षणों के खतरनाक परिणाम निकल सकते हैं। 'वाशिंगटन पोस्ट' में प्रकाशित एक समाचार में यह भी लिख है कि विकासशील देशों के लोगों का प्रयोग ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ चूहे की तरह कर रही हैं। यही कारण है कि आज अनेक मानवाधिकार संगठन यह भी आरोप लगाने लगे हैं कि प्रयोगशाला में मानव एक 'गिनीपिग' की भूमिका निभा रहा है।

कुछ समय पूर्व इंग्लैण्ड में छायी 'मैडकाऊ' बीमारी ने अनियंत्रित वैज्ञानिक एवं चिकित्सकीय परीक्षणों के खतरों को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बहस छेड़ने को बाध्य कर दिया था। नए वैज्ञानिक एवं चिकित्सकीय परीक्षणों के कारण होने वाली बीमारियों की कड़ी में लाइलाज बीमारी 'सीजेडी' भी जुड़ गई है। जिसके प्रति वैज्ञानिकों एवं शोधकर्ताओं का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है।

'सीजेडी' के लक्षण भी वही हैं जो 'मैडकाऊ' बीमारी के ही हैं। 'सीजेडी' उस चिकित्सकीय परीक्षण का प्रतिफल है जो महिलाओं एवं बच्चों पर पिट्यूटरी हार्मोनों के परीक्षण के फलस्वरूप फैल रही है।

आस्ट्रेलिया के मेलबोर्न विश्वविद्यालय के रॉयल मेलबोर्न अस्पताल की वरिष्ठ वैज्ञानिक एवं शोधकर्ती सुश्री लिनेट डंबल के अनुसार इस तरह के प्रयोग मनुष्यों पर बिल्कुल नहीं किए जा सकते हैं। इन्हीं के जैसे विचार रखने वाले अन्य शोधकर्ताओं का भी मानना है कि जीव–जंतुओं पर प्रयोग के जब तक सकारात्मक परिणाम नहीं मिल जाते, तब तक पिट्यूटरी हार्मोन का मनुष्यों पर प्रयोग करना घातक हो सकता है।

'सीजेडी' एक ऐसी खतरनाक बीमारी है जिसमें मस्तिष्क की कोशिकाओं का विघटन हो जाता है एवं अंत में दिमाग एक पिंडनुमा रचना में परिवर्तित हो जाता है। इस बीमारी में रोगी की आँखें, नाक, कान, स्वर और विचार प्राप्ति ओर सोचने की क्षमता में धीरे–धीरे कमी आती जाती है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'सीजेडी' बीमारी का कोई इलाज अभी तक नहीं ढूँढा जा सका है। यह बीमारी एड्स की भाँति संक्रमण से फैलती है। संक्रमण की मुख्य वाहक रक्त कोशिकाएँ होती हैं। यह बीमारी एड्स से भी अधिक घातक है। कारण कि एड्स के लक्षण तो कुछ वर्ष बाद प्रकट होने लगते हैं किन्तु सीजेडी बीमारी का पता दीर्घकाल अवधि के बाद होता

है तब तक रोगी की हालत शोचनीय हो जाती है।

ज्ञातव्य है कि पिट्यूटरी हार्मोन परीक्षण खासतौर से अमेरिका, इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया, स्कैण्डैनेविया, फ्रांस एवं मैक्सिको में किए जा रहे हैं। 'सीजेडी' से पीड़ित सबसे अधिक लोग फ्रांस में हैं। 60 से 70 के दशक में पिट्यूटरी हार्मोन बाँझ महिलाओं को एवं उन बच्चों के परीक्षण के लिए दिए जाते थे, जिनके जीवन की संभावना नहीं के बराबर होती थी। इस हार्मोन को भारत सहित अन्य विकासशील देशों से एकत्र किया जाता था।

सर्वप्रथम 1985 के दशक में चार बच्चे 'सीजेडी' के शिकार पाए गए। आज विश्व में कितने लोग 'सीजेडी' के शिकार हैं। इसे स्पष्ट रूप से नहीं बताया जा सकता है क्योंकि इसके सही सही आँकड़े प्राप्त नहीं हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अगर ऐसे लाइलाज बीमारियों को रोकना है तो सबसे पहले वैज्ञानिक परीक्षणों की उपादेयता पर सोचना होगा और साथ ही साथ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा किए जा रहे दवाओं के बेधड़क परीक्षणों पर अंकुश लगाना होगा।

रीडर, भूगोल विभाग
स्नातकोत्तर विश्वविद्यालय
दूबेछपरा, बलिया (उ0प्र0)–277 205

श्री विजय चितौरी सम्मानित

जिला विज्ञान क्लब, इलाहाबाद ने 2001 का विज्ञान संचारक सम्मान विज्ञान लेखक एवं विज्ञान परिषद् प्रयाग के अन्तरंगी विजय चितौरी को दिया है।

सम्मान समारोह गत 22 दिसम्बर को जवाहर इण्टर कालेज, जारी, इलाहाबाद में आयोजित हुआ। समारोह का आयोजन 'विकास' के निदेशक सत्येन्द्र सिंह ने किया।

मुख्य अतिथि इलाहाबाद कृषि संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) के डॉ. एस.एस. सिंह थे।

पृष्ठ 10 का शेष ...

की नीजिभार क्षमताएँ भारत से कहीं अधिक हैं। हमारा इन्सैट–3सी मात्र 2750 किग्रा0 वजनी है जबकि अमेरिकी/यूरोपीय संचार उपग्रह 4,000 किग्रा0 वजनी बनने लगे हैं, ज़ाहिर है कि वे हमारे मुकाबले कहीं अधिक ट्रांसपोंडर ले जा सकते हैं। ऐसे में अपने उपग्रहों की संख्या बढ़ाना और प्रक्षेपण क्षमता में वृद्धि हमारे लिए लाजिमी है अन्यथा अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी के अंतर्राष्ट्रीय बाजार में भारत की भागीदारी कम हो जाएगी। इस प्रतिस्पर्धी विश्व में अपना वजूद बनाए रखने के लिए अपने अंतरिक्षीय पायों को और मजबूत बनाना ही होगा।

इन्सैट-3 शृंखला के अन्य उपग्रह

इन्सैट–3 शृंखला का प्रथम उपग्रह इन्सैट–3ए वर्ष 2002 के अंत तक प्रक्षेपित किया जाना है। इसमें 12 सामान्य सी बैंड के ट्रांसपोंडर, 6 विस्तारित सी बैंड, 6 के. यू. बैंड, एक विनाश एवं अनुसंधान ट्रांसपोंडर, एक उच्च क्षमता का रेडियोमीटर तथा मौसम पर निगरानी रखने वाला सी.सी.डी. (Charged Coupled Device) कैमरा भी लगा होगा।

इन्सैट–3डी मूलतः मौसमी उपग्रह होगा। इसमें मौसम विज्ञान संबंधी ध्वनियों और फोटोग्राफिक उपकरण लगे होंगे।

इन्सैट–3ई संचार उपग्रह होगा जिसमें 24 सामान्य सी बैंड के ट्रांसपोंडर और 12 विस्तारित सी बैंड के ट्रांसपोंडर होंगे। आगामी दो वर्षों में इन्सैट–3 शृंखला के सभी उपग्रहों को यथासंभव प्रक्षेपित कर दिया जाएगा, ऐसी इसरो ने आयोजना बनाई है।

प्रौद्योगिकी के परिवर्तित होते स्वरूपों के साथ–साथ सामंजस्य बनाए रखने हेतु, इसरो कटिबद्ध है और तदनुरूप नई सुविधाएँ जुटाने की दिशा में सचेष्ट है और इस प्रकार डी.टी.एच. (Direct to Home) डिजिटल टी.वी. प्रसारण हेतु ट्रांसपोंडरों के बढ़ाने और सचल दूरभाष सुविधाओं को वर्धित करने की चेष्टाएँ की जा रही हैं।

34, एलनगंज
इलाहाबाद–211 002

राष्ट्रीय पशु बाघ के संरक्षण की समस्या

** डॉ. शीतला प्रसाद वर्मा तथा
* उमेश कुमार शुक्ला

भारत का राष्ट्रीय पशु 'बाघ' पैन्थर टाइग्रिस (लिनियस) अपने मोहक रंगों, मायावी रूप और शक्ति के लिए हमेशा ही सम्मान का पात्र रहा है। सभी मांसभक्षियों में बाघ सबसे आकर्षक एवं भव्य पशु है। दुनिया भर में पायी जाने वाली आठ प्रजातियों में से भारतीय प्रजाति को 'रायल बंगाल टाइगर' के नाम पर 'बंगाल का बाघ' कहा जाता है।

सन् 2000 जून व जुलाई माह में भुवनेश्वर स्थित नन्दनकानन प्राणी उद्यान में हुई 14 सफेद बाघों की मौत के बाद, बाघों के संरक्षण की समस्या जैव विविधता संरक्षकों और पशुप्रेमियों के लिए एक शोचनीय मुद्दा बन चुकी है। नन्दनकानन प्राणी उद्यान में इस प्रजाति के सर्वाधिक 55 बाघों की उपस्थिति के कारण ही उसकी प्रसिद्धि रही है। सितम्बर 2000 में एक वन्य-जीव प्रेमी द्वारा उच्चतम न्यायालय में दायर एक याचिका की पैरवी सालिसिटर जनरल हरीश साल्वे द्वारा की गई थी जिसमें उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ए0एस0 आनन्द ने बाघों की दयनीय स्थिति पर चिन्ताजनक टिप्पणी की थी, और सरकार को निर्देश दिया था-

1. सरकार दो सप्ताह के भीतर विभिन्न प्राणी उद्यानों में उपस्थित क्षमता से अधिक पशु-पक्षियों के उचित प्रबन्धन की व्यवस्था सुनिश्चित करे।

2. तथा उन उद्यानों में रह रहे पशु-पक्षियों की बेहतरी के लिए सरकार एक एजेन्सी बनाने पर जोर दे।

आज सर्वप्रथम इस बात की आवश्यकता है कि बाकी बचे हुए बाघों का बचाव किस तरह किया जाए। यह तभी निर्णय लिया जा सकता है जबकि नन्दनकानन त्रासदी के असली एवं मूल कारणों का पता चल जाए।

नन्दनकानन घटना को एक वर्ष बीत चुके हैं परन्तु यह बात आज भी विवाद के दायरे में है कि दोषी कौन है ? परजीवी और रोग फैलाने का माध्यम बनी जंगली मक्खियाँ या प्राणी उद्यान का कुप्रबन्धन ? मृत बाघों के पोस्टमार्टम रिपोर्ट मे मौत का कारण ट्रिपैनोसोमियासिस बीमारी को ही बताया गया है। लेकिन मौतों का सिलसिला जिस श्रृंखलाबद्ध ढंग से चला था, उससे जवाब कम मिलते हैं- सवाल ज्यादा खड़े होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय चिड़ियाघर के पशु विभाग के डॉ0 जान लुईस और लन्दन में पशु संरक्षण कार्यक्रमों से सम्बन्धित डॉ0 क्रिस्टी ने यह जानकारी दी थी कि बाघों को बचाव के लिए लगाए गए बैरेनिल के इन्जेक्शन जहरीली दवा की श्रेणी में आते हैं। वन्य जीव विशेषज्ञ डॉ0 लाला अश्विनी कुमार सिंह के अनुसार नन्दनकानन त्रासदी के लिए कृत्रिम प्रजनन की मौजूदा व्यवस्थ जिम्मेदार है क्योंकि कृत्रिम प्रजनन से कमजोर बाघ पैदा होते हैं तथा इनमें बीमारियों से लड़ने की शक्ति बहुत कम होती है। पिछले वर्ष जो 14 बाघ मरे थे उनमें से 8 कृत्रिम प्रजनन से पैदा हुए थे। पीले बाघों की तुलना में सफेद बाघों के लिए ट्रिपैनोसोमियासिस बीमारी ज्यादा खतरनाक होती है। विशेषज्ञों का कहना है कि चिड़ियाघरों में कृत्रिम प्रजनन से कमजोर बाघ पैदा करने का अनावश्यक कार्यक्रम बन्द कर देना चाहिए। 'वातावरण' नामक गैरसरकारी संगठन की ओर से तैयार एक रिपोर्ट में भी देश के चिड़ियाघरों में बाघों एवं पशुओं के वितरण तथा चिड़ियाघरों के भीतर चलाए जाने वाले प्रजनन कार्यक्रमों को गलत बताया गया है।

केन्द्रीय प्रायोजित स्कीम 'बाघ परियोजना' की शुरुआत 1 अप्रैल 1973 को शुरु की गई थी जिसके उद्देश्य थे :-

1. वैज्ञानिक, आर्थिक, सौन्दर्यपरक, सांस्कृतिक

और पारिस्थिकीय मूल्यों के लिए भारत में बाघों की व्यवहार्य संरचना बनाए रखना तथा सुनिश्चित करना।

2. लोगों के लाभ, शिक्षा, मनोरंजन के लिए एक राष्ट्रीय धरोहर के रूप में ऐसे जैविक महत्व के क्षेत्रों का सदैव परिरक्षण करना।

परन्तु परियोजना के उद्देश्य पूरे नहीं हो पाए हैं।

1880 में ग्रिफिथ इवान्स नामक वैज्ञानिक ने ट्रिपैनोसोमियासिस बीमारी के कारक ट्रिपैनोसोमा–इवैन्सी की खोज की थी। भारत में यह बीमारी मुख्यतया टैबानस वंश की मक्खियों से फैलती है। टैबानस मक्खी, ट्रिपैनोसोमा इवैन्सी प्रोटोजोआ की मुख्य संवाहक है। बाघों की पैन्थेरापारडस प्रजाति में ट्रिपैनोसोमा–इवैन्सी की उपस्थिति 1972 के आसपास से ही विभिन्न पशु वैज्ञानिकों के द्वारा देखी जाती रही है। प्रोटोजोआ के इस संक्रमण में बाघ अस्वस्थ हो जाता है, उसे तेज बुखार हो जाता है और अंततः वह मर जाता है।

"किसी भी बीमारी के इलाज से बेहतर है, उस बीमारी से बचाव"। इस धारणा को भविष्य में बाघों के संरक्षण हेतु जैवविविधता संरक्षकों को अमल में लाना पड़ेगा। भविष्य में ऐसी त्रासदी से बचा जा सके, इसके लिए प्राणी उद्यान के कुप्रबन्धन को दूर करना पड़ेगा। विभिन्न प्राणि उद्यानों के वार्षिक बजट को बढ़ाकर वैतनिक खर्च में बढ़ोत्तरी करनी चाहिए। ऐसे प्राणी उद्यानों में कार्यरत पशुविदों को समय–समय पर वन्य जीवों की देखभाल से सम्बन्धित विशेष प्रशिक्षणों में सम्मिलित होकर जानकारियों एव कार्यक्षमता में उत्तरोत्तर निपुणता प्राप्त करते रहना चाहिए।

** प्रवक्ता (पशु पालन एवं दुग्ध विज्ञान)
कुलभास्कर आश्रम महाविद्यालय
इलाहाबाद–211001

* विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद–211 002

डॉ. चैतन्यमय गांगुली पद्मश्री से सम्मानित

न्यूक्लियर फ्यूल काम्प्लेक्स बोर्ड के अध्यक्ष एवं न्यूक्लियर फ्यूल काम्प्लेक्स, हैदराबाद के मुख्य कार्यपालक डॉ. चैतन्यमय गांगुली को भारत सरकार द्वारा पद्मश्री अलंकरण से सम्मानित किए जाने के समचार से नगरद्वय के वैज्ञानिक जगत एवं नाभिकीय ईंधन सम्मिश्र के कर्मचारियों तथा अधिकारियों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। यह पहला अवसर है जब नाभिकीय ईंधन सम्मिश्र के किसी वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी को यह अलंकरण प्राप्त हुआ है। यूरेनियम, प्लूटोनियम तथा थोरियम के अनुसंधान, विकास एवं उत्पादन के क्षेत्र में डॉ. गांगुली का उल्लेखनीय योगदान है। वे गत जनवरी 1998 से न्यूक्लियर फ्यूल काम्प्लेक्स के मुख्य कार्यपालक एवं न्यूक्लियर फ्यूल काम्प्लेक्स बोर्ड के अध्यक्ष के रूप में कार्यरत हैं तथा उनके कार्यकाल में न्यूक्लियर फ्यूल काम्प्लेक्स ने उत्पादन के क्षेत्र में उल्लेखनीय मानदण्ड स्थापित किए हैं। अनेकों राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों तथा सम्मानों से सम्मानित डॉ. चैतन्यमय गांगुली ने लगभग 180 शोधपत्र प्रस्तुत किए हैं तथा तीन पुस्तकें भी लिखी हैं। धातु अभियांत्रिकी क्षेत्र के वैज्ञानिक डॉ. चैतन्यमय गांगुली की साहित्य एवं संगीत के क्षेत्र में भी अच्छी रुचि है। विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों ने डॉ. गांगुली को पद्मश्री से सम्मानित किए जाने पर बधाईयाँ दी हैं।

पदार्थ की पाँचवीं अवस्था का सम्मान

✍ विष्णु प्रसाद चतुर्वेदी

नोबल पुरस्कार समिति ने वर्ष 2001 का भौतिकी का पुरस्कार तीन वैज्ञानिकों को संयुक्त रूप से देकर पदार्थ की पाँचवीं अवस्था को सम्मान प्रदान करने के साथ भारतीय वैज्ञानिक स्वर्गीय सत्येन्द्र नाथ बोस के विचारों की सत्यता को प्रमाणित किया है। यह पुरस्कार अमेरिका के ई.ए. कारनेल, सी.ई. वीएमान तथा जर्मनी के वोल्फगेंग केटरले को पदार्थ की पाँचवीं अवस्था की प्रायोगिक पुष्टि एवं उसके गुणों की जाँच सम्बन्धी प्रयोग करने के उपलक्ष्य में घोषित किया गया था।

हमारे वातावरण में पदार्थ की तीन अवस्थाएँ ठोस, द्रव व गैस ही पाई जाती है। एक ही पदार्थ के ये तीन रूप इनकी आण्विक अवस्था में परिवर्तन के कारण बनते हैं। प्रत्येक पदार्थ असंख्य सूक्ष्म कणों से मिलकर बना होता है। इन कणों को अणु कहते हैं। ठोस अवस्था में पदार्थ के कणों के मध्य की दूरी न्यूनतम होती है। प्रत्येक अणु मध्य बिन्दु के इधर–उधर दोलन करता रहता है। द्रव अवस्था में अणुओं के मध्य की दूरी बढ़ने के साथ–साथ गति का दायरा भी बढ़ जाता है।

पदार्थ की चौथी अवस्था को प्लाज़्मा के नाम से जाना जाता है। पदार्थ की यह अवस्था अत्यधिक ताप या तीव्र विद्युतीय क्षेत्र में ही संभव है। सूर्य या अन्य सितारों के केन्द्रीय भाग में या गैसीय विद्युत विसर्जन में इस पदार्थ की इस अवस्था के अस्तित्व को परखा जा सकता है। पदार्थ की यह अवस्था गैस जैसी ही होती है, परन्तु इसमें पदार्थ के कण अणु रूप में नहीं हो कर इलेक्ट्रान तथा धनावेशित आयनों के रूप में होते हैं। इलेक्ट्रान तथा धनावेशित आयनों का यह मिश्रण परमाणुओं के विखंडन से बनता है, अतः कुल मिलाकर प्लाज्मा निरावेशित होता है। आवेशित कणों की उपस्थिति के कारण प्लाज्मा अति सुचालकता के साथ–साथ कई अन्य असाधारण गुण प्रदर्शित करता है। खगोल शास्त्रियों के अनुमान के अनुसार ब्रह्माण्ड में उपस्थित पदार्थ की 99 प्रतिशत मात्रा प्लाज्मा अवस्था में ही पाई जाती है।

पदार्थ की पाँचवीं अवस्था की कहानी का प्रारम्भ 1924 में उस समय हुआ जब प्रसिद्ध भारतीय भौतिकशास्त्री सत्येन्द्र नाथ बोस ने अल्बर्ट आइन्स्टीन को अपना एक शोध–पत्र इस अनुरोध के साथ भेजा कि आइन्स्टीन उक्त शोध पत्र को पढ़ने के बाद यदि उचित समझें तो जर्मन अनुसंधान पत्रिका में छपने हेतु भेज दें। उस समय सत्येन्द्र नाथ बोस ढाका विश्वविद्यालय में भौतिकी के रीडर थे।

इस शोधपत्र में बोस ने संहतिहीन कण फॉटोन का उल्लेख करते हुए प्लांक के विकिरण नियम को विशिष्ट प्रकार की सांख्यिकी द्वारा प्रदर्शित किया था। इस पत्र को पढ़ कर आइन्स्टीन बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने स्वयं इस शोध पत्र का जर्मन भाषा में अनुवाद किया तथा यथाशीघ्र प्रकाशित करने की सिफारिश के साथ प्रकाशनार्थ भेजा। यह शोधपत्र जर्मनी की प्रसिद्ध भौतिक शोध पत्रिका, के अगस्त 1924 के अंक में प्रकाशित हुआ।

आइन्स्टीन ने बोस द्वारा प्रतिपादित सांख्यिकी को आगे बढ़ाया तथा उसे काल्पनिक परमाणु समूह पर लागू किया। सांख्यिकी का यह संशोधित रूप बोस–आइन्स्टीन सांख्यिकी के नाम से जाना जाता है। पदार्थ की पाँचवीं अवस्था बोस–आइन्स्टीन सांख्यिकी का ही प्रतिफल है। उक्त सांख्यिकी से ही इस बात की संभावना प्रकट हो गई थी कि बोसोन कणों से बनी तनु गैस को निश्चित तापक्रम तक ठण्डा किया जाए तो पदार्थ की एक स्थूलदर्शी नई अवस्था प्राप्त हो सकती है। पदार्थ की इस नई अवस्था में सभी परमाणु संगठित

हो एक सुपर परमाणु में बदल जाते हैं। परमाणुओं का स्वतन्त्र स्वरूप लुप्त हो जाता है। ऐसी गैस प्राप्त होती है जो इतनी सघन व इतनी ठण्डी होती है कि परमाणु लगभग स्थिर अवस्था में आ जाते हैं। इस अवस्था परिवर्तन को ही बोस–आइन्स्टीन संघनन कहते हैं।

यहाँ यह जान लेना उचित होगा कि परमाण्विक समूहों को दो भागों में बाँटा जा सकता है– फर्मियन्स एवं बोसोन्स। वे कण जो फर्मीडिरक सांख्यिकी तथा अपवर्जी नियम का पालन करते हैं फर्मियन कहलाते हैं। कोई भी दो फर्मियन्स एक सी क्वान्टम अवस्था में नहीं रह सकते हैं। जबकि बोसोन्स पर या शर्त लागू नहीं होती। चाहे जितने बोसोन्स हो समान ऊर्जा अवस्था में रखे जा सकते हैं। इलेक्ट्रॉन्स, न्यूट्रॉन एवं प्रोटॉन आदि द्रव्यीय कण फर्मियन कणों के उदाहरण हैं तो फोटान बोसोन्स का अच्छा उदाहरण है। फोटॉन के अतिरिक्त हीलियम, रुबीडियम–87 आदि कुछ अन्य परमाणु भी बोसोन की तरह व्यवहार करते हैं।

सत्येन्द्र नाथ बोस के कार्य के आधार पर आइन्स्टीन ने पदार्थ की पाँचवीं अवस्था की घोषणा कर दी थी, परन्तु वे तथा उनके बाद के भौतिकशास्त्री निश्चित रूप से यह नहीं बता सके कि पाँचवीं अवस्था में पदार्थ कैसा दिखाई देगा या उसके क्या गुण होंगे। तकनीकी बाधाओं के कारण प्रायोगिक पुष्टि सम्भव नहीं थी। बोस–आइन्स्टीन संघनन की अवधारणा को समझकर उसे प्रयोगिक पुष्टि के स्तर तक लाने में 70 वर्ष का समय लग गया।

खगोल–भौतिकी प्रयोगशाला संयुक्त संस्थान के एम.एच. एन्डरसन, जे.आर. इन्शर, एम.आर. मैथ्युस, सी.ई. वीइमान तथा ई.ए. कोरेनल ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय देते हुए 5 जून 1995 को 15 सेकेण्ड के लिए पदार्थ की पाँचवीं अवस्था को प्रत्यक्ष कर दिखाया। उक्त वैज्ञानिक दल ने अपने प्रयोग हेतु टाइम और– बिटिंग पोटेन्शियल मैग्नेटिक ट्रेप का उपयोग किया। इस व्यवस्था में ठण्डे परमाणु चुम्बकीय आवरण में कैद हो जाते हैं। इस तरह ताप निरन्तर गिरता जाता है। प्रयोग में रूबीडियम–87 परमाणुओं का उपयोग किया गया था। जब ताप परमशून्य से 170 नैनो केल्विन ऊपर था तक रूबीडियम–87 के लगभग 2000 परमाणु संयुक्त हो कर एक आकृति एक माप में बदल गए। वैज्ञानिक दल ने उस घटना को सूक्ष्म सुपरनोवा विस्फोट के समान मानते हुए बोसेनोवा नाम दिया।

वैज्ञानिकों के अनुसार यह पदार्थ की एक नई अवस्था थी। उस समय के पूर्व यह अवस्था ब्रह्माण्ड में प्राकृतिक रूप में कभी भी उपस्थित नहीं रही थी। यह सुपर परमाणु माप में 100 माइक्रोमीटर से कुछ ही कम था। जिस समय मॉनीटर के पर्दे पर प्रयोग की सफलता का संकेत प्रदर्शित हुआ उस समय केवल पदार्थ की पाँचवीं अवस्था ही उनकी प्रयोगशाला में उपस्थित नहीं थी, अपितु ब्रह्माण्ड का सर्वाधिक ठण्डा स्थान ब्रह्माण्ड का सर्वाधिक स्थिर स्थान भी उनकी प्रयोगशाला में उपस्थित था।

उसके बाद उक्त प्रयोग को विश्व की कई प्रयोगशालाओं में दोहराया जा चुका है। संघनित्र में जुड़ने वाले परमाणुओं की संख्या बढ़ने के साथ–साथ सुपर परमाणु के स्थायित्व की अवधि को तीन मिनट तक बढ़ाया जा सका है। केटरले ने बोस–आइन्स्टीन संघनित प्रयोगों को बहुत आगे बढ़ाया है। केटरले के प्रयासों से यह तथ्य सामने आया है कि बोस–आइन्स्टीन संघनन से बने सुपर परमाणु का पदार्थ के साथ वही सम्बन्ध है जो बल्ब द्वारा उत्पन्न प्रकाश का लेजर प्रकाश से होता है। पदार्थ की पाँचवीं अवस्था के विषय में हुए अनुसंधानों के बहुत उपयोगी सिद्ध होने की संभावनाएँ प्रकट की जा रही हैं।

2. तिलक नगर पाली
राजस्थान–306 401

पुस्तक समीक्षा

(1)

पुस्तक : विज्ञान लेखन के 100 वर्ष (1850–1950)
सम्पादक : डॉ0 शिवगोपाल मिश्र
प्रकाशक : विज्ञान प्रसार नई दिल्ली, मूल्य : 250.00 रु0

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पाश्चात्य संस्कृति और विज्ञान का सम्बन्ध भारतीय परिवेश से निरंतर बढ़ता गया। विज्ञान के क्षेत्र में भाषा की बाधा को दूर करने के सामाजिक और शासकीय स्तर पर प्रयास हुए। फलतः हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य सृजन डेढ़ सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया जो अब प्रौढ़ावास्था में प्रवेश कर रहा है। शैशवकाल की प्रारम्भिक कठिनाइयों और बाधाओं पर कैसे विजय पाई गई इससे हम सामान्यतः अनभिज्ञ रहे हैं।

"हिन्दी में विज्ञान लेखन के सौ वर्ष" का सम्पादन करके प्रो0 शिवगोपाल मिश्र ने एक गुरुतर कार्य किया है। उन्होंने एक शताब्दी के कालखण्ड में विज्ञान के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में अनेक पत्र–पत्रिकाओं में, जिनमें से अधिकांश उपलब्ध हैं या अनेक का प्रकाशन ही बन्द हो गया है, 1253 लेखकों के 3850 प्रकाशित निबन्धों में से चुने 160 लेखों को दो भागों में बाँटा है– 1. मूलभूत विज्ञान तथा 2. जीवनोपयोगी विज्ञान। ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में प्रकाशित 80 निबन्ध विज्ञान के मूल स्वरूप, सिद्धान्त और दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं। पुस्तक की भूमिका से स्पष्ट है कि वैज्ञानिक साहित्य के सृजन में रचयिताओं को शब्दावली, मुहावरों, शैली विषयक कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। ग्रन्थ में प्रस्तुत निबन्धों के अनुशीलन से पता लगता है कि वे तत्कालीन लोकप्रिय विषयों तथा पाठकों की जिज्ञासा के अनुरूप हैं। वैज्ञानिक साहित्य के विकास और प्रसार में रुचि रखने वाले सामान्य पाठक तथा विशेषज्ञ दोनों के लिए इस संग्रह में रोचक और ज्ञानवर्धक सामग्री है। इन निबन्धों से वैज्ञानिक शब्दावली और मुहावरों के क्रमिक विकास का भी समुचित ज्ञान होता है। **'विज्ञान परिषद्' और 'विज्ञान प्रसार' के संयुक्त योगदान से प्रकाशित यह ग्रन्थ वैज्ञानिक साहित्य के विकास से परिचय कराने के अतिरिक्त नई पीढ़ी के लेखकों को प्रेरणा देकर साहित्य सृजन में पथ प्रदर्शन भी करेगा।** इन सब बातों को देखते हुए इस योजना को सही अर्थों में मील के पत्थर की संज्ञा दी जा सकती है। इसके सुविज्ञ सम्पादक डॉ0 शिवगोपाल मिश्र ने अपना उत्तरदायित्व बड़ी योग्यता से निभाया है और वे साधुवाद के अधिकारी हैं। पाठक दूसरे खण्ड के प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

डॉ. देवेन्द्र शर्मा
सी–1038, इन्दिरा नगर, लखनऊ

(2)

पुस्तक : विज्ञान भारती प्रदीपिका (स्वदेशी विज्ञान की अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका) संयुक्तांक–2001–सारांशिका –स्मारिका, भारतीय विज्ञान सम्मेलन
प्रकाशक : विज्ञान भारती प्रकाशन, जबलपुर
पृष्ठ संख्याः 133, **मूल्य :** 150.00 रुपये

ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में मौलिक भारतीय योगदान का रेखांकन तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में देश के गौरव को बनाए रखने का सजग स्वदेशी विज्ञान की अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका का यह 7वाँ संयुक्तांक 2001 जो भारतीय विज्ञान सम्मेलन 2001 की सारांशिका–स्मारिका को सम्मिलित कर विज्ञान भारती प्रकाशन, जबलपुर द्वारा प्रकाशित एक संग्रहणीय कृति है।

स्वयं प्रसूत विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी किसी भी राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति के विकास की एवं समृद्धि की आधारभूमि रहती है। हजारों वर्षों से हम सुसभ्य, सुसंस्कृत एवं समृद्ध राष्ट्र रहे हैं अतः वर्तमान पीढ़ी को भी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में स्वतंत्र पहचान बनाने के उद्देश्य से युवा–वैज्ञानिको को आगे आकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से नवीनतम टेक्नोलॉजी का उपयोग कर नई समृद्धि की ओर राष्ट्र को ले जाने में उल्लेखनीय भूमिका निभानी होगी।

विज्ञान के सभी क्षेत्रों और पक्षों के इतिहास एवं आधुनिक प्रौद्योगिकी एवं प्राविधियों का समावेश करके लिखे गए शोध सारांश/शोध पत्र मुख्यतः गणित, गणितज्ञ, वैदिक गणित, ज्योतिर्विज्ञान, फलित ज्योतिष, वेद मंत्रों के गूढ़ार्थ एवं उनकी व्याख्याएँ, वास्तु शास्त्र, शिल्प शास्त्र, प्रतिभा वैश्विक चेतना विज्ञान, धर्म व विज्ञान, पुराजैविकी, मृदा–भूविज्ञान, पुरावानस्पतिकी, जल प्रबंधन, परमाणुवाद, धातु शिल्प, समग्र मानव विज्ञान, अनुवांशिकी एवं ज्योतिअनुवांशिकी, वनस्पतियों का गुणधर्म, जैव विविधता इत्यादि रोचक ज्ञानवर्धक शोध आलेख प्रकाशित किए गए हैं।

कुल मिलाकर लेखों की शैली रोचक, सरल, सहज एवं पठनीय है। यह पुस्तक निस्संदेह विज्ञान से संबंध रखने वाले हर वर्ग के लिए उपयोगी, संग्रहणीय तो है ही, विशेष कर विज्ञान या विज्ञान से सम्बन्धित विषय लेकर शोध कर रहे शोधार्थियों के लिए, 12–14 जनवरी 2002 को जबलपुर में आयोजन के सम्बन्ध में विशेषांक के रूप में यह कृति एक मील का पत्थर साबित होगी। यह पुस्तक पुस्तकालयों एवं अध्यापकों के लिए भी उपयोगी व लाभप्रद है।

पत्रिका का मुख्य पृष्ठ आकर्षक, व सुन्दर, सुस्पष्ट छपाई तथा मेहनत करके प्रूफ रीडिंग करने से पूरी पुस्तक में गलती ढूँढ पाना दुष्कर कार्य है। यह वेबसाइट Vigyanbhartipradeepika.org पर भी उपलब्ध है।

रवीन्द्र कुमार खरे
द्वारा–यूनाइटेड बैंक आफ इण्डिया
तुलाराम चौक, जबलपुर (म0 प्र0)

(3)

पुस्तक : शल्य चिकित्सा और आप
लेखक : डॉ0 आर.सी. गुप्ता
प्रकाशक : कुशुल प्रकाशन, 78–बी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद–2,
संस्करण : 1998, **मूल्य :** 80.00 रु0

यह पुस्तक एक अनुभवी डाक्टर द्वारा लिखी गई है। इसका उद्देश्य रोगी, उसके परिवार, इष्ट मित्रों तथा सगे सम्बन्धियों को शल्य चिकित्सा के विषय में सर्वांगीण जानकारी प्राप्त कराना है। प्रायः शल्य चिकित्सा से रोगी घबराता है। यदि उसे इस चिकित्सा के पूर्वापर का सही सही ज्ञान करा दिया जाए तो घबराहट का कोई कारण नहीं है। डॉ0 गुप्त सिद्धहस्त शल्य चिकित्सक रहे हैं। उन्होंने रोगियों की मनोदशा को समझा है। वे यह भी जानते हैं कि जनसामान्य में आँत उतरना, अण्डकोष में पानी भरना, नसबन्दी के लिए शल्य चिकित्सा आवश्यक है। पुस्तक में शल्य चिकित्सा के बाद मरीज की देखभाल के बारे में भी जानकारी दी गई है।

पुस्तक सरल भाषा में लिखी गई है। लेखक ने शल्य चिकित्सा के दौरान के अनुभव भी अंकित किए हैं। कुल मिलाकर पुस्तक सूचनाप्रद और पठनीय है। पुस्तक के कई संस्करण होने से स्पष्ट हो जाता है कि यह लोकप्रिय है और इसको पुरस्कृत भी किया जा चुका है।

(4)

पुस्तक : हृदय रोगः कारण और बचाव
लेखक : डॉ0 आर.सी. गुप्ता
प्रकाशक : नवभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
संस्करण : 2001, **मूल्य :** 30.00 रुपये

हृदय रोग आजकल सामान्य घटना है– इससे 12 वर्ष के बच्चे तथा 100 वर्ष के वृद्ध, पुरुष तथा महिलाएँ समान रूप से पीड़ित होती हैं। अतः इस रोग के कारण और बचाव के बारे में आम जनता को व्यावहारिक जानकारी प्रदान करना आवश्यक है। यदि एक अनुभवी डाक्टर यह जानकारी दे तो फिर सोने में सोहागा। डॉ0 गुप्ता अनुभवी डाक्टर है। उन्होंने जनसामान्य को दृष्टि में रखकर अनेक उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं। यह लघु पुस्तक अनेक जानकारियों से युक्त है। सचित्र होने के कारण आकर्षक भी है। हृदय रोग के कारणों में आयु, लिंग, आनुवांशिकी, शरीर भार, रक्तचाप, मधुमेह, कोलेस्टेराल, मानसिक तनाव आदि की जो भूमिका होती है उसका सरल एवं रोचक वर्णन हुआ है। हृदय रोग के लक्षण भी बताए गए हैं और हृदय रोग होने पर डाक्टरी परीक्षण की सलाह दी गई है।

यह पुस्तक सभी आयु के व्यक्तियों को पढ़नी चाहिए।

(5)

पुस्तक : जैव प्रौद्योगिकी : पर्यावरण एवं मानव स्वास्थ्य
सम्पादक : डॉ0 जयराज बिहारी
प्रकाशक : औद्योगिक विष विज्ञान अनुसन्धान केन्द्र, लखनऊ
संस्करण : 2001

डॉ0 जयराज बिहारी ने 12–13 सितम्बर 2000 को औद्योगिक विष अनुसन्धान केन्द्र, लखनऊ द्वारा आयोजित द्विदिवसीय राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी में देश भर के विशेषज्ञों द्वारा पठित शोध पत्रों का संकलन करके बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसमें कुल मिलाकर 34 शोध पत्र सम्मिलित हैं। इस संकलन की विशेषता यह है कि ये सारे शोध पत्र हिन्दी में प्रस्तुत किए गए और उन पर जो बहस हुई वह भी हिन्दी में हुई। ये शोध पत्र जैव प्रौद्योगिकी के विविध पक्षों से सम्बद्ध हैं। पर्यावरण और मानव स्वास्थ्य पर जैव प्रौद्योगिकी से प्राप्त शोध परिणामों का क्या प्रभाव पड़ सकता है इसकी इन शोधपत्रों में खोजबीन हुई है।

चूँकि ये शोधपत्र विभिन्न प्रयोगशालाओं तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं अतः पारिभाषिक शब्दावली में एकरूपता सम्भव नहीं हो पाई। फिर भी सम्पादक ने उन्हें अपनी सूझबूझ से परिमार्जित किया है।

इस राष्ट्रीय संगोष्ठी के शोध पत्रों का यह प्रस्तुतीकरण आश्वस्त करता है कि भविष्य में हिन्दी का वर्चस्व बढ़ेगा।

डॉ. शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
इलाहाबाद-211 002

फार्म 4
(Form IV)

1. **प्रकाशन स्थान :** विज्ञान परिषद् प्रयाग

2. **प्रकाशन अवधि :** मासिक, प्रत्येक मास का 15 दिनांक

3. **मुद्रक का नाम :** नागरी प्रेस
क्या वह भारतीय नागरिक है : हाँ
पता : 91/186, अलोपीबाग, इलाहाबाद

4. **प्रकाशक का नाम :** डॉ. शिवगोपाल मिश्र
पता : विज्ञान परिषद् प्रयाग, इलाहाबाद–2

5. **सम्पादक का नाम :** डॉ. शिवगोपाल मिश्र
क्या वह भारत का नागरिक है : हाँ
पता : विज्ञान परिषद् प्रयाग, इलाहाबाद–2

6. **उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों जो समस्त पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक साझेदार या हिस्सेदार हों:** विज्ञान परिषद् प्रयाग

मैं शिवगोपाल मिश्र एतत् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

दिनांक : 1.3.2002

शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिशद् प्रयाग
इलाहाबाद-211002

विज्ञान परिषद् प्रयाग

सुप्रसिद्ध विज्ञान लेखक डॉ० विष्णु दत्त शर्मा

द्वारा अपने सुपुत्र

स्वर्गीय श्री प्रवीण कुमार शर्मा

की स्मृति में स्थापित

प्रथम प्रवीण स्मृति सूचना प्रौद्योगिकी पुरस्कार 2001 हेतु

सूचना प्रौद्योगिकी विषयक हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकें

आमंत्रित करता है।

नियम :-

- प्रथम प्रवीण स्मृति सूचना प्रौद्योगिकी पुरस्कार हेतु वर्ष 2000 तथा 2001 में प्रकाशित पुस्तकें ही विचारार्थ स्वीकार होंगी।
- पुरस्कार की राशि रू0 5000.00 (पाँच हजार रूपये) होगी।
- पुरस्कार हेतु प्रविष्टियाँ भेजते समय पुस्तक की तीन प्रतियाँ तथा पुस्तक के मौलिक होने का प्रमाण पत्र संलग्न करना आवश्यक है।
- पुरस्कार का निर्णय विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा नियुक्त एक निर्णायक मण्डल द्वारा किया जायेगा। डॉ0 विष्णु दत्त शर्मा निर्णायक मंडल के स्थायी सदस्य होंगे।
- पुरस्कार हेतु प्रविष्टियाँ 31 मार्च 2002 तक विज्ञान परिषद् प्रयाग के पास पहुँच जानी चाहिये।
- विज्ञान परिषद् प्रयाग से सम्बन्धित अधिकारी इस पुरस्कार हेतु नामांकन नहीं कर सकते।
- पुरस्कार के लिये पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागी पुरस्कार के लिये उपयुक्त नहीं समझे जायेंगे।

प्रविष्टियाँ निम्न पते पर भेजें-

प्रधानमंत्री

विज्ञान परिषद् प्रयाग

महर्षि दयानन्द मार्ग

इलाहाबाद-211 002 (उत्तर प्रदेश)

फोन 0532-460001